संस्कृत व्याकरण को जैन आचार्यों का योगदान

—डॉ० सूर्यकान्त बाली

भूमिका :—भारतीय विद्या के विविध पक्षों के वैज्ञानिक विवेचन में प्रारम्भ से ही दो धारायें सक्रिय एवं प्रभावशाली रही हैं—ब्राह्मणधारा और श्रमणधारा[1]। इनमें से ब्राह्मणधारा न्याय, सांख्य, वेदान्त आदि अनेक प्रकार के मतवादों तथा उन मतवादों द्वारा भारतीय विद्याओं पर डाले गये सूक्ष्म किन्तु अत्यन्त निर्णायक प्रभाव के रूप में परिलक्षित होती है; दूसरी ओर श्रमणधारा की अभिव्यक्ति मुख्यतः दो प्रकार के वादों से घनिष्ट रूप से जुड़ी हुई है—बौद्ध मत और जैन मत।[2] इन दोनों मतों में से यदि जैन मत को श्रमणधारा का वास्तविक प्रतिनिधि एवं उत्तराधिकारी माना जाये तो इसमें कोई विसंगति नहीं मानी जानी चाहिए। इसके दो कारण हैं: एक कारण यह है कि प्राचीनता की दृष्टि से जैन परम्परा काल के उस खण्ड को स्पर्श करती है जिसे अद्यावधि उपलब्ध ऐतिहासिक खोजों के संदर्भ में इतिहासातीत कहा जा सकता है[3] जबकि बौद्ध परम्परा की शुरुआत काफी विलम्ब से हुई। दूसरा कारण यह है कि निरन्तरता की दृष्टि से भी जैन परम्परा ने बिना किसी विराम के प्रत्येक काल में भारतीय विद्या को अपना निश्चित और निरन्तर योगदान किया है जो अभी तक जारी है जबकि एक विशेष काल के बाद बौद्ध परम्परा धार्मिक दृष्टि से प्रसारवादी और भारतीयता की दृष्टि से तटस्थतावादी हो गयी।[4] इसलिए जहाँ जैन परम्परा भारतीय विद्याओं के संवर्धन में सम्पृक्तता और गुणवत्ता के साथ सहस्राब्दियों से लगी हुई है वहां बौद्ध परम्परा इन दोनों विशेषताओं का दावा शायद नहीं कर पाती।

संस्कृत व्याकरण के विकास में जैन आचार्यों के योगदान का यदि अध्ययन किया जाय तो इसमें संपृक्तता और गुणवत्ता इन दोनों गुणों की निरन्तर प्राप्ति होती है। इस विशिष्ट योगदान का ऐतिहासिक अध्ययन करने से पूर्व कुछ प्रारम्भिक बातों का विमर्श कर लेने से हमारा अध्ययन अधिक प्रासंगिक और दिशा-निर्दिष्ट हो जायेगा।

किसी भी विद्वान का किसी भी विद्या से जुड़ना दो दृष्टियों से हो सकता है। एक दृष्टि यह हो सकती है कि वह विद्वान उस विद्या के प्रति इसलिए आकृष्ट हो कि वह अपने विशिष्ट जीवन दर्शन के संदर्भ में उस विद्या का अध्ययन करना चाहता है। भारतीय काव्य शास्त्र में अनेक आचार्यों ने अपने विशिष्ट जीवन दर्शन के सन्दर्भ में इस शास्त्र का अध्ययन किया और उसे अपनी दार्शनिक दृष्टि के अनुसार परिवर्तित करना चाहा।[5] अभिनवगुप्त, महिमभट्ट आदि के नाम इस दृष्टि से प्रख्यात नाम हैं।[6] व्याकरण में भर्तृहरि द्वारा भाषाई चिन्तन को शब्द-ब्रह्मवाद की ओर मोड़ देना उनकी अद्वैत वेदान्त के प्रति निष्ठा के परिणामस्वरूप सम्भव हो पाया।[7] व्याकरण में नागेश के अपने योगदान पर उसकी तन्त्रनिष्ठा का स्पष्ट प्रभाव माना जाता है।[8] अश्वघोष द्वारा "सौन्दरनन्द" और "बुद्धचरित" के माध्यम से काव्य क्षेत्र में पदार्पण महात्मा बुद्ध के विचारों के प्रसार की एकान्त इच्छा के परिणाम स्वरूप ही किया गया प्रतीत होता है।[9] दूसरी दृष्टि यह हो सकती है कि उस विद्वान का उस विशिष्ट विद्या के प्रति सम्मान शुद्ध रूप से वस्तुपरक विद्यानुराग

१. तु० भारतीय दर्शन में आस्तिक, नास्तिक शब्दों पर विचार—डा० सूर्यकान्त, संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास १९७२ पृ० ३८२.
२. तु० दासगुप्त, एस० एन० भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग एक, १९७८, पृ० १७८.
३. तु० मिश्र, उमेश भारतीय दर्शन १९६४, पृ० ९८.
४. Majumdar, R.C. History and Culture of Indian People. Vol II. 1968 p. 390-91.
५ कृष्णकुमार, अलंकार शास्त्र का इतिहास १९७५, पृ० ३२-३४.
६ वही, पृ० १५७.
७. त्रिपाठी रामसुरेश, संस्कृत व्याकरण दर्शन १९७२ पृ० ४८.
८. शुक्ल कमलेश प्रसाद, परमलघुमंजूषा १९६१, संस्कृत भूमिका भाग प० १२, १३.
९. कृष्ण चैतन्य, संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास १९६५ पृ० २६३-६४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण ही सम्भव हो पाया हो। पाणिनि, पतंजलि, वामन-जयादित्य, भट्टोजिदीक्षित सदृश विद्वानों का व्याकरण अध्ययन इसी दृष्टि-कोण से किया गया प्रतीत होता है।

इस दृष्टि से जैन वैयाकरण किस वर्ग में रखे जाने चाहिए यह अध्ययन का एक रोचक विषय हो सकता है। जैन सम्प्रदाय अपनी विशिष्ट दार्शनिक मान्यताओं तथा नैतिक निष्ठाओं के कारण एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र का स्वामी है। अनेकान्तवाद जैन विचारधारा में धुरीभूत स्थान रखता है। परन्तु यह एक आश्चर्य का विषय है कि किसी भी जैन वैयाकरण ने जैन जीवन दर्शन को सुप्रमाणित करने के लिए व्याकरण के क्षेत्र में प्रवेश किया हो इसके तात्विक प्रमाण प्राप्त नहीं होते। जिस प्रकार अभिनव गुप्त ने अपनी काश्मीर शैवमत की सम्बन्धी मान्यताओं के अनुरूप भरत के नाट्यरस का कायाकल्प कर दिया, या भर्तृहरि ने अपने वेदान्ती जीवन दर्शन को शब्द शास्त्र में ढाल दिया, उसी प्रकार पूज्यपाद देवनन्दी, पाल्यकीर्ति या हेमचन्द्र ने भी जैन जीवन दर्शन को जीवन की एक प्रमुख विद्या, भाषाई चिन्तन में, अर्थात् व्याकरण में आरोपित कर दिया हो, इसके प्रमाण नहीं मिलते। विशिष्ट जीवन दर्शन के अनुसर्ता होने पर भी जैन आचार्यों ने व्याकरण दर्शन में इस प्रकार का परिवर्तन करने का विचार क्यों नहीं किया, यह विद्वानों के लिए एक खोज का विषय हो सकता है। प्रमुख रूप से यही कहा जा सकता है कि जैन आचार्यों ने व्याकरण का जो गहन अध्ययन किया है वह व्याकरण विद्या के तटस्थ अध्ययन के विचार से ही किया है।

इसी स्थान पर प्रश्न उठ सकता है कि यदि उपर्युक्त पृष्ठभूमि के महत्त्व को मान लिया जाये तो संस्कृत व्याकरण को जैन आचार्यों के योगदान का पृथक अध्ययन करने की क्या आवश्यकता है। अर्थात इस योगदान में ऐसा कौन सा जैन तत्व है जिसके आधार पर उसका पृथक अध्ययन होना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं—

१. भारत में जैन लेखकों ने बौद्धों के समय एक विशिष्ट भाषा शैली और पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण किया। जैन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में इसके दिग्दर्शन स्पष्ट प्राप्त होते हैं। यद्यपि व्याकरण शास्त्र में विशिष्ट भाषा शैली प्रस्तुत कर पाना या समग्र रूप से ही नूतन पारिभाषिक शब्दावलि दे पाने का अवकाश लगभग नहीं था क्योंकि पाणिनि द्वारा इन दोनों दृष्टियों से इतनी अधिक परिपक्वता प्रदान कर दी गई थी और परवर्ती टीकाकारों द्वारा उसका परिपोषण इतना अधिक कर दिया गया था कि उसमें नवीनता न तो सम्भव थी और न ही विशेष वांछनीय रह गई थी। फिर भी जैन आचार्यों ने उसे एक विशिष्ट रूप देने का प्रयास किया।

२. जैन आचार्य, बौद्धों के समान, वेद-विरोधी थे। इसी आधार पर उनका वैदिक भाषा से भी कोई लगाव न था। संस्कृत से विशेष अनुराग न होने पर भी संस्कृत भाषा का अध्ययन करना उनकी विवशता थी क्योंकि प्राचीन समय में भारत के बौद्धिक जगत पर संस्कृत का पूर्ण आधिपत्य था। संस्कृत का बहिष्कार कर देने से जैन आचार्यों का स्वयं वहिष्कृत हो जाने का खतरा विद्यमान था। पाणिनीय व्याकरण पढ़ने से वैदिक भाषा का अध्ययन स्वभावतः करना ही पड़ता था। अतः संस्कृत के, वैदिक भाषा के नियमों की रचना से विहीन, व्याकरण की रचना करना जैन वैयाकरणों का मुख्य उद्देश्य रहा। इस विशिष्ट कारण के प्रति समर्पित होने से जैन संस्कृत व्याकरण एक पृथक वर्ग उचित ही माना जा सकता है।

३. जैन विद्वानों में जहाँ संस्कृत के प्रति वैराग्य था वहाँ प्राकृत अपभ्रंश के प्रति उनके मन में विशेष अनुराग था। संस्कृत व्याकरण की रचना के माध्यम से जैन आचार्यों की प्रवृति प्राकृत अपभ्रंश के व्याकरण की रचना की ओर शनैःशनैः पर निश्चित रूप से हुई। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने सिद्ध हैम शब्दानुशासन में संस्कृत भाषा के नियमों के बाद अन्तिम आठवें अध्याय में प्राकृत अपभ्रंश भाषा के नियम दिये हैं। प्रथम प्रयास न होने पर भी इस दिशा-निर्देश के बाद मानों जैन आचार्यों को संस्कृत व्याकरण न लिखने और प्राकृत अपभ्रंश व्याकरण लिखने का सुअवसर मिल गया। इस दिशा निर्देशक प्रवृति के कारण जैन संस्कृत वैयाकरणों का स्कूल अपने पृथक अस्तित्व का उचित दावा कर सकता है।

इस प्रसंग में एक प्रश्न और भी उभर कर सामने आता है। केवल वैदिक भाषा के प्रति वैराग्य के कारण पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेना जैन आचार्यों को रुचिकर न लगता था, यह पर्याप्त कारण प्रतीत नहीं होता। जैन आचार्यों द्वारा पृथक् व्याकरण सम्प्रदायों की स्थापना में एक और कारण भी माना जा सकता है। ब्राह्मण धारा और जैन धारा के विद्वानों में परस्पर बौद्धिक मतभेद प्रायः एक दूसरे के ऊपर व्यंग्यबाण फेंकने की सीमा तक भी पहुँच जाया करते थे। प्रारम्भ में विभिन्न विद्याओं पर जैन ग्रन्थों के अभाव के कारण जैन विद्वान ब्राह्मण धारा के ग्रन्थों को पढ़ने के लिए विवश थे जिसके लिए उन्हें प्रायः इस प्रकार की कहानियां सुननी पड़ती थीं कि जैन विद्वानों के पास अपने ग्रन्थ नहीं हैं। इस प्रकार की धारणा जैन वैयाकरण बुद्धिसागर सूरि ने 11 वीं सदी में रचित अपने पंचग्रन्थी व्याकरण (अपर नाम शब्द लक्ष्म) में व्यक्त की है[१]। जहां वे लिखते हैं: –

१. प्रमालक्ष्मप्रान्त, ४०३, ४०४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"तैरवधीरिते यत्तु प्रवृतिरावयोरिह ।
तत्र दुर्जनवाक्यानि प्रवृत्तेः सन्निबन्धनम् ।।
शब्दलक्ष्म प्रमालक्ष्म यदेतेषां न विद्यते ।
नादिमन्तस्ततो ह्येते परलक्ष्मोपजीविनः ।।

इस श्लोक से यही तात्पर्य निकलता है कि ब्राह्मणों के द्वारा किये जाने वाले तिरस्कार को निरस्त करने के दृष्टिकोण से जैन आचार्यों की संस्कृत व्याकरण रचना में प्रवृत्ति हुई ।

जैन संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किस प्रकार से किया जाना चाहिए यह भी विमर्श का एक आवश्यक विषय है । जैसा कि प्रायः प्रत्येक सम्प्रदाय के साथ होता ही है, जैन सम्प्रदाय के विद्वानों ने भी जैन आचार्यों द्वारा संस्कृत व्याकरण लिखे जाने की प्राचीनता को बहुत दूर तक ले जाने का प्रयास किया है । यह प्रयास तथ्यपूर्ण है या नहीं यह विवाद का विषय हो सकता है; परन्तु इतना निर्विवाद है कि जैन सम्प्रदाय का प्रथम उपलब्ध प्रामाणिक व्याकरण छठी शताब्दी ई० में जैनेन्द्र व्याकरण के रूप में सामने आता है । जैनेन्द्र से पूर्व भी जैन व्याकरण की कोई न कोई परम्परा निश्चित रूप से रही होगी और जैनेन्द्र के उपरान्त तो यह परम्परा निश्चित रूप से है । इसलिए जैनेन्द्र को केन्द्र बिन्दु मानकर जैन संस्कृत व्याकरण की रचना तीन वर्गों में रखकर की जा सकती है । **जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण, जैनेन्द्र व्याकरण और जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण** । इन तीन वर्गों में रखकर अध्ययन करने से जैन संस्कृत व्याकरण का अध्ययन एक निश्चित परिधि में रहकर तथ्यपूर्ण ढंग से किया जा सकता है ।

संस्कृत व्याकरण को जैन आचार्यों का योगदान दो प्रकार से हुआ है । एक इस रूप में कि स्वयं जैन आचार्यों ने व्याकरण सम्प्रदायों की यथासम्भव प्रतिष्ठा की । इन व्याकरण ग्रन्थों को हम विशुद्ध रूप से जैन व्याकरण कह सकते हैं । जैनेन्द्र, शाकटायन, हैम सम्प्रदाय इस कोटि के जैन व्याकरण हैं । दूसरे रूप में जैन आचार्यों का संस्कृत व्याकरण को योगदान इस प्रकार रहा है कि अनेक जैन आचार्यों ने जैनेतर व्याकरण सम्प्रदायों में टीका, वृत्ति, भाष्य आदि के रूप में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । इन ग्रन्थों का अपना महत्व है । विशेष रूप से कातन्त्र और सारस्वत व्याकरणों पर जैन आचार्यों के विविध प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । निष्कर्षतः जैन आचार्यों के संस्कृत व्याकरण को योगदान का अध्ययन दो प्रकार से हो सकता है : (क) जैन व्याकरण, जिसमें जैनेन्द्र व्याकरण को केन्द्र मानकर पूर्ववर्ती और परवर्ती, इस प्रकार त्रिविध अध्ययन हो सकता है, तथा (ख) जैनेतर व्याकरण सम्प्रदायों पर जैन आचार्यों के ग्रन्थ । प्रस्तुत निबन्ध में अध्ययन के लिए यही आधार अपनाया गया है ।

(क) जैन व्याकरण

(१) जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण से पूर्व जैन व्याकरणों की एक लम्बी परम्परा रही थी । दुर्भाग्य से इस परम्परा का एक भी व्याकरण ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होता । इसलिए कुछ विद्वानों ने ऐसी मान्यता रखी है कि ऐसी किसी भी परम्परा का कोई भी अस्तित्व कभी नहीं रहा ।[१] परन्तु जिस प्रकार के उल्लेख एवं सन्दर्भ इस परम्परा के विषय में प्राप्त होते हैं उससे इस परम्परा की प्रामाणिकता ही सिद्ध होती है ।

आचार्य देवनन्दी ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में अपने से पूर्ववर्ती छह वैयाकरणों के मत नामोल्लेख पूर्वक उद्धृत किये हैं । वे हैं—श्रीदत्त,[२] यशोभद्र,[३] भूतवलि,[४] प्रभाचन्द्र[५], सिद्धसेन[६] और समन्तभद्र,[७] । इसी प्रकार आचार्य पाल्यकीर्ति ने अपने शाकटायन व्याकरण में इन्द्र[८] सिद्धनन्दी[९] और आर्यवज्र[१०] के मतों का नामोल्लेखपूर्वक प्रयोग किया है ।

---

१. प्रेमी नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण पृ० १२०
२. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् १,४ ३४.
३. कृवृषिमृजा यशोभद्रस्य २,१,९९.
४. राद् भूतबलेः ३,४,८३.
५. रात्रेः कृतिप्रभाचन्द्रस्य, ४,३,१८०.
६ वेतेः सिद्धसेनस्य, ५,१,७
७. चतुष्टयं समंतभद्रस्य, ५, ४, १४०.
८ जराया ङस् इंद्रस्याचि, १, २, ३७.
९. शेषात् सिद्धनन्दिनः, २, १, २२९.
१०. ततः प्राग् आर्यवज्रस्य, १, २, १३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन प्राचीन वैयाकरणों के नामों के बारे में नाथूराम प्रेमी ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य और इतिहास[1] में लिखा है कि इनमें से किसी ने व्याकरण की रचना की होगी इसमें संदेह है। इस बारे में तर्क देते हुए उन्होंने लिखा है कि सम्भवतः इन विद्वानों ने कुछ विशेष प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया होगा जिन्हें जैनेन्द्र आदि में आदरपूर्वक उद्धृत कर दिया गया है। परन्तु यह विचार वैज्ञानिक प्रतीत नहीं होता। देवनन्दी और पाल्यकीर्ति ने जिस प्रकार से शब्द रचना के सन्दर्भ में इन नामों का उल्लेख किया है, वे निश्चित रूप से वैयाकरणों के नाम ही सिद्ध होते हैं। किसी साहित्यकार द्वारा प्रचलन से हटकर प्रयुक्त किये गये रूपों का इस प्रकार से नामोल्लेख पूर्वक प्रयोग करने की परम्परा संस्कृत व्याकरण में नहीं है; इसके विपरीत वैयाकरणों के मतान्तरों को आदर पूर्वक प्रस्तुत करने के लिए उनके नामों का उल्लेख करने की स्वस्थ परम्परा संस्कृत व्याकरण में है। पाणिनि ने ऐसे अनेक नाम उद्धृत किये हैं जो केवल वैयाकरणों के नाम हैं। अतः पं० मीमांसक[2] के साथ-साथ हम भी इस बात से सहमत हैं कि ये नाम प्राचीन वैयाकरणों के हैं। पर दुर्भाग्यवश जैनेन्द्र पूर्ववर्ती व्याकरण की यह परम्परा अब पूर्णतया लुप्त हो चुकी है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि ये सभी आचार्य जैन परम्परा के ही वैयाकरण हैं। जैनेतर व्याकरण ग्रन्थों में उनका उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि ये सभी जैनेन्द्र पूर्ववर्ती वैयाकरण जैन परम्परा के आचार्य थे। संस्कृत व्याकरण की परम्परा में अब तक की खोजों से ऐसा ज्ञात होता है कि अतिप्राचीन काल से भारत में वैयाकरणों के दो वर्ग थे —ऐन्द्र और माहेश्वर। इन दोनों सम्प्रदायों की स्थापना क्रमशः इन्द्र और महेश्वर नामक वैयाकरणों ने की थी।[3] इन दोनों सम्प्रदाय प्रवर्तक वैयाकरणों के नाम शनैः शनैः इन नामों वाले देवताओं के साथ इस प्रकार घुलमिल गये कि ये दोनों नाम ऐतिहासिक नामों के स्थान पर काल्पनिक नाम प्रतीत होने लगे। परन्तु व्याकरण की परम्परा में ये नाम किसी न किसी रूप में सम्प्रदाय प्रवर्तक वैयाकरणों के रूप में उद्धृत होते रहे।[4]

ऐसा माना जाता है कि पाणिनि माहेश्वर सम्प्रदाय के आचार्य थे और वार्तिककार कात्यायन ऐन्द्र सम्प्रदाय के वैयाकरण थे।[5] पाणिनि द्वारा चौदह महेश्वर सूत्रों को यथावत् ग्रहण करना इसी तथ्य का पोषक है। विद्वानों की ऐसी धारणा बनी है कि माहेश्वर सम्प्रदाय के अनुयायी पाणिनि के सूत्रों पर ऐन्द्र सम्प्रदाय के अनुयायी कात्यायन द्वारा वार्तिकों की रचना सम्भवतः दोनों सम्प्रदायों को एक करने का प्रयास था।[6] कुछ विद्वान ऐन्द्र व्याकरण को जैन व्याकरण का आदि ग्रन्थ सिद्ध करते हैं।[7] ऐसा कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने इन्द्र के लिए जिस व्याकरण की रचना की थी उसे उपाध्याय लेखाचार्य ने ग्रहण किया और लोक में उसका प्रचलन ऐन्द्र व्याकरण के रूप में किया। एक विशेष कारिका[8] के आधार पर इस धारणा को पुष्ट करने का प्रयास जैन परम्परा में किया जाता रहा है—

"सक्को अतत्समक्खं भगवंतं आसणे निवेसिता।
सद्दस्स लक्खणं पुच्छं वागरणं अवयवा इदं॥"

ऐन्द्र व्याकरण की रचना कब हुई इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है। दिगम्बर जैनाचार्य सोमदेवसूरि ने इन्द्र व्याकरण का उल्लेख किया है।[9] १७ वीं सदी में हुए विनयविजय उपाध्याय और १८ वीं सदी में हुए लक्ष्मीवल्लभमुनि ने जैनेन्द्र व्याकरण को ही ऐन्द्र व्याकरण मान लिया है।[10] परन्तु यह मत प्रायः स्वीकार नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि महावीर स्वामी का जो काल प्रायः स्वीकार कर लिया गया है, अब तो पाणिनि का व्याकरण ही उसका समकालीन माना जा सकता है, हालांकि मीमांसक ने पाणिनि का काल भी २९०० ई० पू० स्वीकार किया है।[11] इन्द्र प्रोक्त व्याकरण पाणिनि से कहीं प्राचीन है इसमें किसी भी विद्वान् ने

१. प्रथम संस्करण प० १२०.
२. मीमांसक, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, वि० सं० २०२०, पृ० ५००-५०१.
३. मिश्र वेदपति, व्याकरण-वार्तिक —एक समीक्षात्मक अध्ययन, १९७०, पृ० ६.
४. (क), बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच। नान्तं जगाम। महाभाष्य, पस्पशाह्निक।
(ख) इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।
भट्टोजिदीक्षित सिद्धांतकौमुदी संज्ञा प्रकरण।
५. मिश्र, वेदपति, व्याकरण वार्तिक—एक समीक्षात्मक अध्ययन, १९७०, आमुख पृ० १.
६. वही, आमुख पृ० १.
७. तु० शाह, अम्बालाल, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ५, १९६९ पृ० ५.
८. "आवश्यकहरिनिर्युक्ति" और "हरिभद्रीयवृत्ति" भाग १, पृ० १८२.
९ यशस्तिलचम्पू, आश्वास, १, पृ० ९०
१०. शाह, अम्बालाल, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग-५, १९६९ पृ० ६ पा० टि० १.
११ मीमांसक, यु०, संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग-१, वि० सं० २०२०, पृ० १८५ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्देह नहीं व्यक्त किया है। पतंजलि के महाभाष्य में बृहस्पति द्वारा इन्द्र को व्याकरण पढ़ाये जाने का उल्लेख है।[1] जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि ऐन्द्र व्याकरण प्रतिपद व्याकरण था। उसके अतिरिक्त ऐन्द्र व्याकरण की ऐतिहासिकता के विषय में और भी अधिक उल्लेख मिलते हैं।[2] ये सभी उल्लेख जहां ऐन्द्र व्याकरण की ऐतिहासिकता सिद्ध करते हैं वहां उसके आदि जैन व्याकरण होने पर कुछ भी निश्चित प्रकाश नहीं डालते। हां, इस सम्बन्ध में एक अनुमान परक निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है। प्राचीनकाल में जहां माहेश्वर व्याकरण ब्राह्मण धारा का प्रतिनिधि व्याकरण था, वहां ऐन्द्र व्याकरण जैन धारा का प्रतिनिधि व्याकरण रहा होगा। वार्तिककार कात्यायन द्वारा, जो स्वयं ऐन्द्र सम्प्रदाय के थे, माहेश्वर सम्प्रदाय के पाणिनि सूत्रों पर वार्तिकों की रचना कर देने से दोनों सम्प्रदायों में जो भी विभेद रहा होगा वह पूरी तरह समाप्त हो गया।

जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण में शब्दप्राभृत का स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है। यह सम्भवतः संस्कृत भाषा में लिखा हुआ संस्कृत व्याकरण ग्रन्थ था जिसके सम्बन्ध में सिद्धसेन गणि ने कहा है कि "पूर्वों में जो शब्द प्राभृत है, उसमें से व्याकरण का उद्भव हुआ है।"[3] यह ग्रन्थ इस समय नहीं मिलता। इस सम्भाव्य ग्रन्थ के विषय में इतना और जानने योग्य है कि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर एक ग्रन्थ समुदाय का अंग था। "जैन आगमों का १२वां अंग दृष्टिवाद के नाम से था, जो अब उपलब्ध नहीं है। इस अंग में १४ पूर्व सन्निविष्ट थे। प्रत्येक पूर्व का वस्तु और वस्तु का अवान्तर विभाग प्राभृत के नाम से जाना जाता था। आवश्यक चूर्णि अनुयोगद्वारा चूर्णि सिद्धसेन गणिकृत तत्वार्थसूत्र भाष्य टीका और मलधारी हेमचन्द्रसूरिकृत अनुयोगद्वारसूत्रटीका में शब्द प्राभृत का उल्लेख मिलता है।" इस विवरण से अनुपलब्ध शब्द प्राभृत का महत्व इस दृष्टि से ज्ञात होता है कि एक विशेष समय में व्याकरण शास्त्र को जैन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अंतरंग स्थान मिल गया था।

जैन परम्परा में क्षपणक का वैयाकरण के रूप में बहुत अधिक महत्व है। क्षपणक कौन थे, इस बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती। विद्वानों ने वैयाकरण क्षपणक को विक्रम के नवरत्नों में उल्लिखित क्षपणक से अभिन्न माना है जिनके विषय में कालिदास ने अपने ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में लिखा है।[4] यदि इस ग्रन्थ में उल्लिखित क्षपणक वैयाकरण क्षपणक से अभिन्न है तो इस आचार्य का समय ईसा की प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है। जैन परम्परा में एक और व्याकरण भी इसी शताब्दी में हुए हैं—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर। सिद्धसेन अपने समय के महान् विद्वान थे और जैनेन्द्र व्याकरण में नामोल्लेख पूर्वक इनका मत उद्धृत किया गया है। जिससे इनका एक लब्धप्रतिष्ठ वैयाकरण होना सिद्ध होता है। समकालिकता और विद्या-क्षेत्र की समानता होने के कारण ऐसी धारणा भी व्यक्त की गई है कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।[5]

क्षपणक द्वारा लिखित व्याकरण आज उपलब्ध नहीं हैं परन्तु जिस प्रकार के उल्लेख क्षपणक के व्याकरण के विषय में मिलते हैं उससे स्वाभाविक रूप से यह निष्कर्ष प्राप्त हो जाता है कि क्षपणक ने अनेक प्रकार के व्याकरण-पाठ लिखे थे और सम्भवतः उसने व्याकरण-सम्प्रदाय की स्थापना की थी। मैत्रेयरक्षित द्वारा रचित तन्त्रप्रदीप में क्षपणक व्याकरण के अनेक उल्लेख मिलते हैं। तन्त्रप्रदीप १,४,५५ में क्षपणक-व्याकरण ४,१,१५५, में क्षपणक महान्यास उज्ज्वलदत्त मणि के उणादि-पाठ में क्षपणक के उणादि पाठ के उल्लेख मिलते हैं। महान्यास शब्द से किसी न्यास या लघु न्यास की रचना सम्मिलित प्रतीत होती है। इस उल्लेख परम्परा से क्षपणक के शब्दानुशासन के अनेक पाठों तथा उसके विपुल प्रभाव का परिचय मिल जाता है।

जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण में एक आयाम उन आचार्यों का है, जिनका नामोल्लेख पूर्वक मत का उद्धरण देवनन्दी और पाल्यकीर्ति ने किया है, परन्तु जिनके ग्रन्थ थे या नहीं—इस सम्बन्ध में मतभेद है। दूसरा आयाम ऐन्द्र व्याकरण का है जिसे कतिपय विद्वान् आदि जैन व्याकरण मानने के पक्ष में हैं। तीसरे आयाम के अन्तर्गत शब्दप्राभृत और क्षपणकशब्दानुशासन आते हैं जिनकी ऐतिहासिक निश्चतता जैनेन्द्रपूर्ववर्ती जैन व्याकरण में सबसे अधिक है, पर ये दोनों ग्रन्थ भी अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो पाये हैं। इस प्रकार जैनेन्द्र पूर्ववर्ती जैन व्याकरण की परम्परा लम्बी होते हुए भी ऐतिहासिक निश्चितता और उपलब्धि की अपेक्षा अभी रखती है।

---

१. "बृहस्पतिरिन्द्राय" इत्यादि, महाभाष्य, पस्पशाह्निक (अ० १, पा० १, आह्निक १)
२. मीमांसक, सं० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृ० ८३-८८.
३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, १९६९, पृ० ६.
४. धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंह शंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायाम्। रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥" ज्योतिर्विदाभरण, २०, १०.
५. मीमांसक, यु०, स० व्या० शा० का इतिहास, भाग १, पृ० ५२९-३०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) जैनेन्द्र व्याकरण

ऊपर बताया जा चुका है कि पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा लिखित जैनेन्द्र व्याकरण परम्परा का प्राचीनतम नियमित व्याकरण है। जैन परम्परा में जैनेन्द्र व्याकरण की प्रतिष्ठा इस पर लिखी गई टीका सम्पत्ति और स्वयं इस व्याकरण का अपना स्वरूप—सब मिलाकर जैनेन्द्र व्याकरण को ऐसा रूप प्रदान कर देते हैं जो किसी सम्प्रदायप्रवर्तक वैयाकरण द्वारा लिखित व्याकरण को प्राप्त होना चाहिए। जैन परम्परा में जैनेन्द्र व्याकरण की महती प्रतिष्ठा निम्नलिखित लोकप्रिय श्लोक से स्पष्ट हो जाती है : "सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम् ।" जैनेन्द्र व्याकरण का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि बोपदेव ने जिन प्राचीन आठ वैयाकरणों का उल्लेख किया है उनसे जैनेन्द्र का नाम भी है—

"इन्द्रश्चंद्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥"

जैनेन्द्र व्याकरण के सम्बन्ध में जैन परम्परा में यह विश्वास प्रचलित है कि इसकी रचना स्वयं महावीर स्वामी ने की थी। यह विश्वास सम्भवतः "जैनेन्द्र" इस नाम के प्रति श्रद्धातिरेक से प्रेरित है। वास्तव में इसकी रचना महावीर ने नहीं अपितु उनसे सहस्राब्दी से भी अधिक बाद में हुए आचार्य देवनन्दी ने की थी जिनका नाम जिनेन्द्रबुद्धि है तथा जैन परम्परा उन्हें उनके उद्भट पाण्डित्य के कारण पूज्यपाद भी कहती है। पूज्यपाद, देवनन्दी और जिनेन्द्र बुद्धि—ये तीनों नाम एक ही जैन आचार्य के हैं, इसका पोषक एक श्लोक श्रवणबेलगोल के शिलालेख में प्राप्त होता है।

"यो देवनन्दी प्रथमाभिधानं बुद्धया महात्मा स जिनेन्द्रबुद्धिः ।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत् पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥"

इन्हें लोकप्रियतावश "देव" और "नन्दी" इन संक्षिप्त नामों से भी स्मरण किया जाता रहा है। यहां यह ज्ञातव्य है कि ये जिनेन्द्रबुद्धि उस बौद्ध आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि से पृथक् हैं जिन्होंने ८ वीं सदी ई० में काशिकावृत्ति पर न्यास की रचना की थी।

आचार्य पूज्यपाद के परिचय के विषय में कुछ सामग्री प्राप्त होती है। कर्नाटक प्रांत के अनेक शिलालेखों में इनका सादर स्मरण किया गया है। इससे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वे सम्भवतः कर्नाटक प्रांत के थे। चन्द्रय्य नामक एक कर्नाटक कवि ने कन्नड़ भाषा में पूज्यपाद का परिचय देते हुए कहा है कि इनके पिता माधवभट्ट और माता श्रीदेवी दोनों प्रारम्भ में वैदिक मतानुयायी थे। बाद में दोनों ने जैन मत स्वीकार कर लिया। पूज्यपाद ने जब एक दिन किसी उद्यान में सांप के मुंह में पड़े मेंढक को देखा तो इन्हें वैराग्य हो गया।[1] बाद में ज्ञान प्राप्ति के बाद इन्हें जिनके समान कामहन्ता माना गया—"जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत् जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधु वर्णितः ।"[2]

वर्धमान ने इन्हें "दिग्वस्त्र" अर्थात् दिगम्बर जन कहा है—

"शालातुरीय शकटाङ्गजचन्द्रगोमि-दिग्वस्त्र-भर्तृहरि-वामन-भोजमुख्याः ।"[3]

आचार्य पूज्यपाद का काल छठीं शताब्दी ई० माना जाता है। अनेक प्रमाणों के आधार पर अब उनका यह काल प्रायः सर्वसम्मत सा हो गया है। आचार्य ने अपने व्याकरण में सिद्धसेन दिवाकर के मत को उद्धृत किया है।[4] इससे सिद्ध होता है कि पूज्यपाद का आविर्भाव सिद्धसेन के बाद हुआ। सिद्धसेन दिवाकर का समय ५ वीं सदी ई० माना जाता है। ऊपर बता आये हैं कि क्षपणक ही सिद्धसेन दिवाकर माने जाते हैं। यदि यह मान्यता प्रामाणिक है तो भी सिद्धसेन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक होने के कारण उसके समकालीन अर्थात् ५वीं सदी ई० के ही सिद्ध होते हैं।[5] सिद्धसेन से परवर्ती होने के कारण पूज्यपाद छठी शताब्दी ई० के माने जा सकते हैं जिसका पोषक प्रमाण निम्नलिखित हैं। जैनेन्द्र व्याकरण में किसी महेन्द्र द्वारा मथुरा की विजय का संकेत है।[6] भूतकाल के लिए लङ् का प्रयोग अनतिदूर भूत के लिए, यहां तक कि प्रयोक्ता के दर्शन विषय भूतकाल के लिए होता है।[7] इस आधार

---

१. मीमांसक यु०, संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४१३.
२. श्रवणबेलगोल का शिलालेख।
३. गणरत्नमहोदधि।
४. वेतेः सिद्धसेनस्य, जै० व्या० ५, १, ७.
५. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ५७८.
६. अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्, जै० व्या० २, २, ९२.
७. "परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये ?" महाभाष्य ३. २, ११ में वार्तिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर पं० मीमांसक[1] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पूज्यपाद अपने ग्रन्थ में महेन्द्र गुप्त विक्रमादित्य की उस विजय का उल्लेख कर रहे हैं जिसमें, तिब्बती साक्ष्य के आधार पर, महेन्द्र ने दो लाख सेना की सहायता से तीन लाख यवन सैनिकों के साथ मथुरा में युद्ध कर उन्हें देश से बाहर निकाल दिया था। तब महेन्द्र गुप्त युवराज था। यह घटना ५वीं सदी ई० में घटी थी। अतः विशिष्ट भूतकालिक प्रयोग के आधार पर पूज्यपाद का काल ६ठी शताब्दी ई० का प्रथमार्ध होना चाहिए। एक अन्य प्रमाण के अनुसार पूज्यपाद और समन्तभद्र समकालीन है। पूज्यपाद ने समन्तभद्र का मत उद्धृत किया है।[2] समन्तभद्र ने जैनेन्द्र के मंगल श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थ लिखा था। समन्तभद्र का समय छठी सदी ई० का प्रथमार्ध निश्चित माना जाता है। अतः पूज्यपाद देवनन्दी का वही समय माना जाना चाहिए।

इस समय जैनेन्द्र व्याकरण के दो पाठ मिलते हैं। एक पाठ में ३०३६ सूत्र हैं और दूसरे में सूत्रों की संख्या ७०० अधिक है। शेष पाठ भी कहीं-कहीं परिवर्तित तथा परिवर्धित रूप में मिलता है। ३०३६ सूत्रों वाला पाठ "औदीच्यपाठ" और दूसरा अधिक सूत्रों वाला परिवर्तित-परिवर्धित पाठ "दाक्षिणात्यपाठ" कहा जाता है। इस बारे में कुछ मतभेद रहा है कि पूज्यपाद ने इन दोनों पाठों में से किस पाठ की रचना की थी। विद्वानों की प्रायः धारणा है कि "औदीच्यपाठ" ही आचार्य पूज्यपाद का अपना मौलिक पाठ है तथा दूसरा पाठ किसी परवर्ती वैयाकरण ने बढ़ाया है। दाक्षिणात्य पाठ के सम्पादक पं० श्री लालशास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि बृहद् दाक्षिणात्य पाठ ही जैनेन्द्र की अपनी कृति है पर प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध नहीं हो पाया है।[3] इसका प्रमुख कारण यह माना जाता है कि पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि उनके व्याकरण में एकशेष के लिए कोई स्थान नहीं है।[4] जहां औदीच्यपाठ में एकशेष का पूर्ण अभाव है वहां दाक्षिणात्यपाठ की स्थिति वैसी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि ३०३६ सूत्रों वाला औदीच्यपाठ ही पूज्यपाद का मौलिक जैनेन्द्र व्याकरण है।

यहां प्रश्न उठता है कि दाक्षिणात्यपाठ की रचना किसने और कब की थी। ऐसा माना जाता है कि आचार्य गुणनन्दी ने इस पाठ का परिवर्धन किया। इस परिवर्धित संस्करण की ख्याति जैन परम्परा में शब्दार्णव के नाम से है। परिवर्धित संस्करण पर अपनी चन्द्रिका नामक टीका से टीकाकार सोमदेवसूरि ने इस ग्रन्थ का नाम शब्दार्णव लिखा है और इसे स्पष्ट ही गुणनन्दी द्वारा परिवर्धित बताया है।[5] गुणनन्दी के इस शब्दार्णव पर जैनेन्द्र परवर्ती शाकटायन व्याकरण का प्रभाव माना जाता है। शाकटायन का समय अमोघवर्ष के शासन काल[6] में रचा होने के कारण नवम शती ई० का पूर्वार्ध माना जाता है। शाकटायन से परवर्ती होने के कारण गुणनन्दी का काल नवम शती का उत्तरार्ध माना जाता है। इस परिवर्धित दाक्षिणात्य संस्करण पर सोमदेव सूरि की शब्दार्णवचन्द्रिका तथा किसी अज्ञात नामा लेखक की शब्दार्णवप्रक्रिया ये दो टीकायें मिलती हैं। सौभाग्यवश ये दोनों ही टीकायें प्रकाशित हैं।

औदीच्यपाठ वाले जैनेन्द्र व्याकरण की व्याकरणिक विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

१. इस व्याकरण में पांच अध्याय है। अतः इस व्याकरण को पंचाध्यायी भी कहा गया है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं और २० पादों में कुल ३०३६ सूत्र हैं।

२. इस पंचाध्यायी में पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र प्रकारान्तर और भाषान्तर के साथ समाविष्ट कर दिये गये हैं। अध्यायों के सूत्रों का पांच अध्यायों में ही समाविष्ट हो जाने का प्रमुख कारण यह है कि पाणिनीय शास्त्र के वैदिक संस्कृत सम्बन्धी सूत्रों को निकाल दिया गया है क्योंकि जैन व्याकरण में वे अनुपयोगी माने गये। इसलिए सूत्रों की संख्या भी लगभग एक हजार कम हो गई है।

३. जैनेन्द्र व्याकरण (और पाणिनीय व्याकरण) के अनेक सूत्रों में कोई अन्तर नहीं है। उदाहरणतयाः, निम्नलिखित तालिका में दिये गये सूत्र दोनों व्याकरणों में पूर्ण समानता के साथ प्राप्त होते हैं—

---

१. इतिहास, भाग १, पृ० ४१६.
२. चतुष्टयं समंतभद्रस्य, जै० व्या० ५, ४, १४०.
३ मीमांसक, यु० इतिहास, भाग १, पृ० ४३२-३३.
४. स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः, जै० व्या० 1,1.97
५. सैषा श्री गुणनन्दितनितवपुः शब्दार्णवनिर्णय·······"
—चंद्रिका टीका।
६. Majumdar (ed) History and Culture of Indian people, Vol, V 1964, p. 8.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र	जैनेन्द्र व्या०	पाणिनीय व्या०
स्थानेऽन्तरतमः	१-१-४७	१-१-५०
उपान्मन्त्रकरणे	१-२-२०	१-३-२५
धारेरूत्तमर्णः	१-२-१११	१-४-३५
साधकतमं करणम्	१-२-११३	१-४-४२
अभिनिविशश्च	१-२-११८	१-४-४७
अकथितंच	५-२-१२०	१-४-५१
स्वतन्त्रः कर्ता	१-२-१२४	१-४-५४
समर्थः पदविधिः	१-३-१	२-१-१
नदीभिश्च	१-३-१७	२-१-२०
पात्रे समितादयश्च	१-३-४३	२-१-४८
कर्मण्यण्	२-२-१	३-२-१
तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः	२-२-१०	३-२-५
षिद्भिदादिभ्योऽङ्	२-३-८६	३-३-१०४
स्वौजसमौट्	३-१-२	४-१-२
अजाद्यतष्टाप्	३-१-४	४-१-४

इत्यादि ।

४. इसी प्रकार अनेक सूत्र दोनों व्याकरण ग्रन्थों में ऐसे हैं जिनमें नाममात्र की असमानता है । जैसे—

जैनेन्द्र व्या०	पाणिनीय व्या०
हल्वोऽनन्तराः स्फः १-१-३	हलोनन्तराः संयोगः १-१-७
उच्चनीचावुदात्तानुदात्तौ १-१-१३	उच्चैरुदात्तः १-२-२९
	नीचैरनुदात्तः १-२-३०
क्तक्तवतुतः १-१-२८	क्तक्तवतू निष्ठा १-१-२६
डाज्लोहितात् क्यष् २-१-११	लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् ३-१-१३
गुपूधूपविच्छिपणिपनिः आयः २-१-२६	गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः ३-१-२८
स्पृशोऽनुदके क्विः २-२-५६	स्पृशोऽनुदके क्विन् ३-२-५५
वयस्यनंत्ये ३-१-२४	वयसि प्रथमे ४-१-२०
पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ ३-१-३२	अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ४-१-३२

इत्यादि ।

५. जैनेन्द्र और पाणिनीय दोनों व्याकरणों के अनेक सूत्र केवल अमहत्वपूर्ण वर्ण विपर्यय अथवा विभक्ति संक्षेप आदि के अतिरिक्त पूर्ण समानता रखते हैं । जैसे—

जैनेन्द्र व्या०	पाणिनीय व्या०
सर्वादि सर्वनाम १-१-३५	सर्वादीनि सर्वनामानि १-१-२७
निरनेकाजनाङ् १-१-२२	निपात एकाजनाङ् १-१-१४
पूर्वादयो नव १-१-४२	पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७-१-१६
यथासंख्यं समा १-२-४	यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १-३-१०
भूवादयो धुः १-२-१	भूवादयो धातवः १-३-१
निविशः १-२-११	नेर्विशः १-३-१७
परिव्यवक्रियः १-२-१२	परिव्यवेभ्यः क्रियः १-३-१८
विपराजेः १-२-१३	विपराभ्यां जेः १-३-१९

इत्यादि ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. सूत्रों के समान जैनेन्द्र और पाणिनीय व्याकरण की संज्ञाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन हो सकता है। पूज्यपाद द्वारा प्रयुक्त कुछ संज्ञायें पाणिनि की संज्ञाओं की अपेक्षा बहुत स्वल्पाकार हैं। "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यंते वैयाकरणा": की उक्ति जैनेन्द्र व्याकरण पर शतप्रतिशत चरितार्थ होती है। उदाहरणतया—पा० अव्यय जै०प्र०, अनुनासिक ङ०, अव्ययीभाव=प्रादेश, धातु=धु, तद्धित=हृत, प्रत्यय=त्य, निष्ठा=त, प्रातिपदिक=मृत ह्रस्व-दीर्घ प्लुत=प्रदीप, समास=स, सवर्ण=स्व, संयोग=स्फ, लुक्=उष्, गुण=एप, वृद्धि=ऐप्, इत्यादि। यद्यपि पूज्यपाद ने अपने व्याकरण में बहुत ही स्वल्पकाय संज्ञायें दी हैं, पर इनके कारण ग्रन्थ में दुरूहता और क्लिष्टता का समावेश हो गया है। बिना पाणिनीय संज्ञाओं को याद रखे इन्हें याद रख पाना बहुत ही कठिन है। एक और बात भी उल्लेखनीय है। पाणिनीय व्याकरण में समास, सवर्ण, संयोग, गुण, वृद्धि आदि कई संज्ञायें अन्वितार्थ हैं जिससे व्याकरण को समझने में अधिक सहायता मिलती है, इसके विपरीत जैनेन्द्र व्याकरण में यह सुविधा कम हो गई है।

७. संज्ञाओं में प्रयत्नपूर्वक अन्तर करने के साथ ही आचार्य पूज्यपाद ने कुछ संज्ञायें पाणिनीय व्याकरण से यथावत् ग्रहण कर ली है। उदात्त (जै० व्या० १,१,१३), अनुदात्त (१-१-१३,), स्वरित (१-१-१४), द्विः (१-१-२०), संख्या (१-१-३३), सर्वनाम (१-१-३५), पद (१-१-१०२), कारक (१-१-१०२), अपादान (१-१-१०६), सम्प्रदान (१-१-११०), करण (१-१-११३), अधिकरण (१-१-१५), कर्ता (१-१-२४), आदि संज्ञायें इसी कोटि में आती हैं। पाणिनि ने भी इसी प्रकार कुछ नूतन संज्ञाओं की रचना की थी और अनेक संज्ञायें पूर्वाचार्यों से ही ग्रहण कर ली थीं।

८. जैनेन्द्र ने अपने व्याकरण में कहीं-कहीं सूक्ष्मता लाने के लिए तथा विलक्षणता दिखाने के लिए सरलता को बिल्कुल छोड़ दिया है। उदाहरणतया, "विभक्ती शब्द के प्रत्येक वर्ण को अलग करके स्वर के आगे प् तथा व्यंजन के आगे आ जोड़कर सातों विभक्तियों की संख्या निर्दिष्ट की है। जैसे—वा (प्रथमा), इप् (द्वितीया), भा (तृतीया), अप् (चतुर्थी), का (पंचमी), ता (षष्ठी), तथा ईप् (सप्तमी)।"[1] विद्वानों ने इसे शाब्दिक चमत्कार माना है।

९. जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता का दर्शन यह प्रतीत होता है कि परम्परित शब्दावलि को कम से कम छोड़ा जाये और जहां आवश्यक हो तथा सम्भव एवं उपयोगी हो वहां नवीनता लाई जाये। यही स्थिति व्याकरण के नियमों के लागू होने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी सत्य प्रतीत होती है। इसलिए जैनेन्द्र ने पाणिनि के परिभाषा सूत्रों को प्रकारान्तर से पुनः उपस्थित कर पाणिनि की व्याकरणिक प्रक्रिया को यथावत् ग्रहण कर लिया है। उदाहरणतया, निम्नलिखित परिभाषा सूत्र पाणिनि के परिभाषा सूत्रों के समान ही व्याकरणिक प्रक्रिया का स्वरूप उपस्थित करते हैं—स्थानेऽन्तरतमः (जै० व्या० १-१-४७), रन्तोण उः (१-१-४८), अन्तोऽलः (१-१-४९), ङित् (१-१-५०), परस्यादेः (१-१-५१), शित्सर्वस्य (१-१-५२), टिदादिः (१-१-५३), किदन्तः (१-१-५४), परोऽचो मित् (१-१-५५), स्थानीवादेशोनल्विधौ (१-१-५६), परेचः पूर्वविधौ (१-१-५७), न पदान्तद्वित्ववरेयूखस्वानुस्वार दीर्घचर्विधौ (१-१-५८), द्वित्वेऽचि (१-१-५९), येनालि विधिस्तदन्ताद्योः (१-१-६७), इत्यादि।

१०. पाणिनि ने अष्टाध्यायी में महेश्वर सम्प्रदाय के चौदह-प्रत्याहार सूत्रों को यथावत् ग्रहण कर लिया था। उनकी सहायता से जिन प्रत्याहारों की रचना होती है उससे पाणिनीय तन्त्र में संक्षेप लाने में अत्यधिक सहायता मिली थी। जैनेन्द्र व्याकरण में इन प्रत्याहारों को यथावत् ग्रहण कर लिया गया है। इन प्रत्याहारों को पूज्यपाद ने इतनी स्वाभाविकता से अपने व्याकरण का अंग बना लिया है कि आचार्य ने चौदह प्रत्याहार सूत्रों को देने की भी आवश्यकता अनुभव नहीं की। अकालोऽच् प्रदीप: (जै० व्या १-१-११), इग्यणो जिः (१-१-४५), अदेङेप् (१-१-१६), इकस्तौ (१-१-१७), सदृश सूत्रों में पाणिनीय तन्त्र के प्रत्याहारों का सहजता से पयोग कर लिया गया है।

११. व्याकरण में उत्सर्ग-अपवाद शैली की सहायता से विषयों के उपस्थापन में जैनेन्द्र व्याकरण में पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रतिपादित क्रम का यथावत् उपयोग किया गया है। अष्टाध्यायी के समान जैनेन्द्र व्याकरण में भी क्रमशः संज्ञा, परिभाषा, धातु, लकार, कारक, निपात, समास, प्रत्यय, कृत् सम्बन्धी सूत्रों की रचना की गई है। यहां तक कि पाणिनि के समान जैनेन्द्र ने भी कारक विमर्श का प्रारम्भ अपादान के साथ प्रारम्भ किया है।

१२. पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान जैनेन्द्र व्याकरण में भी अन्तिम दो अध्यायों के सूत्रों के लिए असिद्ध व्यवस्था करने के लिए पांचवें अध्याय के दूसरे पाद के अन्त में "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र रखा गया है।

---

१. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, पृ० ५७७.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. पाणिनीय सूत्रों, सूत्रों पर लिखे आवश्यक वार्तिकों तथा पंतजलि की इष्टियों—सभी के सूत्र बना कर इस सारी व्यवस्था को अधिक एकरूपता देने का प्रयास पूज्यपाद ने अपने व्याकरण में किया है।

१४. जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—पाणिनि की अष्टाध्यायी की अपेक्षा पूज्यपाद के व्याकरण की विशेषता यह है कि इसमें एकशेष प्रकरण का अभाव है। अपने व्याकरण से एक शेष प्रकरण को पूरी तरह से निकालने के पीछे आचार्य के पास क्या हेतु था—इसके अतिशय अध्ययन की आवश्यकता निश्चित रूप से है। क्या ऐसा माना जा सकता है कि जैन दर्शन के अनेकान्तवाद के महान् सिद्धान्त को व्याकरणिक अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए एकशेष प्रकरण को ही समास कर दिया गया ? वैसे पूज्यपाद ने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ "सिद्धिरनेकान्तात्"। (जैसे व्या० १-१-११) इस मंगलवाची सूत्र के साथ किया है।

जैनेन्द्र व्याकरण पर चार महत्वपूर्ण टीकायें लिखी गई जो उपलब्ध हैं। आचार्य की स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त उपर्युक्त चार टीकायें इस प्रकार हैं—अभयनन्दि कृत् महावृत्ति, प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करन्यास, श्रुतिकीर्तिकृत पंचवस्तुप्रक्रिया और महाचन्द्रकृत लघुजैनेन्द्र। इनमें से प्रत्येक वृत्ति का अपना महत्व है। इनमें सबसे अधिक महत्व की वृत्ति अभयनन्दि कृत महावृत्ति है। इसमें दो तत्वों का सुन्दर सम्मिश्रण है। एक ओर इसमें अष्टाध्यायी, वार्तिकपाठ, महाभाष्य, काशिका आदि की व्याकरण सामग्री का पूरा उपयोग उठाते हुए कुछ वार्तिक जोड़ने का प्रयास किया गया है। दूसरी ओर उदाहरणों के लिए इसमें जैन इतिहास, धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र, परम्परा आदि का स्रोत के रूप में उपयोग किया गया है। अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः, प्राभृतपर्यन्तमधीते, आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य सदृश उदाहरण पूरे ग्रन्थ को जैन आकार देने में समर्थ है।

शब्दाभोजभास्करन्यास उपर्युक्त महावृत्ति से कलेवर में विशाल है, पर वृत्ति के विषय में प्रभाचन्द्र ने अभयनन्दि का अधिक सहारा लिया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है श्रुतकीर्ति की टीका जैनेन्द्र का प्रक्रिया रूपान्तर है जबकि महाचन्द्र का लघुजैनेन्द्र बाल बोध के लिए है।

(३) जैनेन्द्रपरवर्ती जैन व्याकरण

आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी द्वारा सुव्यवस्थित ढंग से एक व्याकरण दे देने के बाद जैन आचार्यों में व्याकरण लेखन की एक विशिष्ट परम्परा चल पड़ी जिसके अन्तर्गत जैन शाकटायन और हैम ये दो व्याकरण वहुत अधिक प्रसिद्ध हुए। यद्यपि इस परम्परा में अन्य अनेक व्याकरण भी लिखे गये तथापि एक उल्लेखनीय और विचित्र तथ्य यह है कि शास्त्रीय दृष्टि से कोई एक जैन व्याकरण पूरे जैन सम्प्रदाय में मान्यता प्राप्त न कर सका। इस पर आगे चलकर निष्कर्ष स्वरूप हम विस्तार से लिखेंगे। जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण में वामन, पाल्यकीर्ति, बुद्धिसागरसूरि, भद्रेश्वर सूरि, वर्धमान, हेमचन्द्रसूरि के नाम महत्वपूर्ण हैं। इस प्रसंग में हम इन्हीं का विवेचन करेंगे।

वामन—जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण परम्परा में सबसे प्रथम नाम वामन का लिया जा सकता है। वामन के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं : १. जिस वामन की चर्चा हम यहां कर रहे हैं वह उस वामन से पृथक् हैं जिसका नाम "वामन-जयादित्य" इस वैयाकरण-युगल में काशिकाकार के रूप में आता है। २. इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित नहीं है कि वामन जैन मतानुयायी वैयाकरण थे अथवा नहीं। चूंकि वामन द्वारा लिखित ग्रन्थ इस समय नहीं है अतः यह निश्चित कर पाना और भी अधिक कठिन हो गया है। पं० अम्बालाल शाह[१] ने वामन को स्पष्ट रूप से जैनेतर विद्वान् माना है जबकि पं० मीमांसक[२] ने इसे "जैन व्याकरण का कर्ता" माना है। जिस प्रकार से जैन ग्रन्थों में इस आचार्य का उल्लेख किया गया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वामन जैन वैयाकरण थे। जैन विद्वान् वर्धमान ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "गणरत्नमहोदधि" में वामन को "सहृदय चक्रवर्ती" कहा है "सहृदय चक्रवर्तिना वामनेन तु हेम्नः इति सूत्रेण" इत्यादि।[३] अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही वर्धमान ने वामन के व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख किया है—"वामनो विश्रान्तविद्याधरकर्ता"। इससे ज्ञात होता है कि वामन ने "विश्रान्तविद्याधर" नामक ग्रन्थ लिखा था जो आज उपलब्ध नहीं है। इसी ग्रन्थ पर श्वेताम्बर जैन संघ के प्रसिद्ध विद्वान् मल्लवादी ने "न्यास" नामक टीका लिखी थी। यह टीका भी आज उपलब्ध नहीं है। पर इसका संकेत प्रभावकचरितान्तर्गत मल्लवादिचरित[४] में निम्न प्रकार से मिलता है—

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, १९६९, पृ० ४८.
२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४२५.
३. पृ० १६८.
४. निर्णयसागर संस्करण, पृ० ७८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"शब्दशास्त्रे च विश्रान्तविद्याधर वराभिधे।
न्यासं चक्रेऽल्पधीवृन्दबोधनाय स्फुटार्थकम्।।"

महान् जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में मल्लवादी के "न्यास" में से उद्धरण दिए हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण की बृहती टीका में[1] भी इस मल्लवादी को स्मरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में वामन और उसके श्वेताम्बर टीकाकार मल्लवादी का गौरवपूर्ण स्थान था जो सिद्ध करता है कि वामन स्वयं भी जैन थे। दुर्भाग्य से वामन का व्याकरण ग्रन्थ "विश्रान्तविद्याधर" और उस पर मल्लवादी का "न्यास" दोनों ही उपलब्ध नहीं हैं। वामन का समय ५वीं सदी ई० और मल्लवादी का समय छठी सदी ई० के आस-पास का माना जाता है। वर्धमान के गणरत्नमहोदधि के साक्ष्य[2] पर ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वामन ने अपने ग्रन्थ पर स्वयं ही "बृहत्वृत्ति" और "लघुवृत्ति" ये दो टीकाएं लिखी थी। वामन के गणपाठ का उल्लेख भी वर्धमान ने किया है।[3]

पाल्यकीर्ति—जैन परम्परा में यापनीय सम्प्रदाय के आचार्य पाल्यकीर्ति ने एक प्रसिद्ध जैन व्याकरण की रचना की थी जो "जैन शाकटायन व्याकरण" के नाम से प्रसिद्ध है। मूलत: पाल्यकीर्ति रचित व्याकरण का नाम "शब्दानुशासन" है। इस व्याकरण को जैन परम्परा में एवं समग्र व्याकरण परम्परा में कितना महत्वपूर्ण स्थान मिला था, इसके दो उदाहरण देने पर्याप्त रहेंगे। एक यह कि पाल्यकीर्ति यापनीय सम्प्रदाय के आचार्य थे। यापनीय सम्प्रदाय दिगम्बर जैन और श्वेताम्बर—इन दोनों का मध्यवर्ती सम्प्रदाय माना जाता था। जब जैन समाज में इस सम्प्रदाय का प्रचलन समाप्त हो गया तो दिगम्बर और श्वेताम्बर—इन दोनों सम्प्रदायों ने पाल्यकीर्ति को अपना-अपना सम्प्रदायानुवर्ती सिद्ध करने का प्रयास किया। दूसरा यह कि समग्र संस्कृत व्याकरण की परम्परा में पाल्यकीर्ति के ग्रन्थ को इतना अधिक सम्मान मिला कि प्राचीन काल में पाणिनिपूर्ववर्ती महान् व्याकरण-निरुक्तकार शाकटायन के स्तर का वैयाकरण मानते हुए पाल्यकीर्ति के व्याकरण को भी "शाकटायन" अथवा "जैन शाकटायन" के नाम से अभिहित किया गया। पाल्यकीर्ति के शाकटायन व्याकरण के महत्व का प्रतिपादन इस व्याकरण पर यशोवर्मा द्वारा लिखित टीका में एक श्लोक के माध्यम से किया गया है—

"इन्द्रचन्द्रादिभि: शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणम्।
तदिहास्ति समस्तं च, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।।"

आचार्य पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में "अदहदमोघवर्षोऽरातीन्", "अरुणद्देव: पाण्ड्यान्" आदि दृष्टांतों के माध्यम से राष्ट्रकूट वंश के राजा अमोघवर्ष की इन घटनाओं की ओर संकेत किया है जो लेखक के अपने जीवन में घटीं। उसने अपनी वृत्ति का नाम भी अमोघा वृत्ति रखा है। इससे स्पष्ट होता है कि पाल्यकीर्ति राजा अमोघवर्ष के समसामयिक किंवा उसके सभारत्न हैं। अमोघवर्ष का राज्यकाल ८१४ ई० से माना जाता है।[4] इस आधार पर पाल्यकीर्ति का समय ईसा की 9 वीं सदी स्थिर किया जाता है।

यद्यपि पाल्यकीर्ति यापनीय जैन सम्प्रदाय के अग्रणी आचार्य माने जाते हैं, पर उनके व्याकरण के एक सूत्र "घोषनादेर्वुच्" (३, ३, १७८) के आधार पर पं० युधिष्ठिर मीमांसक[5] ने उन्हें प्रारम्भ में वैदिक मतानुयायी माना है जिनका गोत्र शाकटायन रहा होगा और जो सम्भवत: तैत्तिरीय शाखा के अध्येता ब्राह्मण थे।

पाल्यकीर्ति का शाकटायन व्याकरण शास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण व्याकरण है। इसकी कुछ विशेषताएं इस प्रकार हैं :—

१. जहां जैनेन्द्र व्याकरण पांच अध्यायों में है वहां यह व्याकरण चार अध्यायों में ही है। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद होने के कारण पूरे व्याकरण में कुल सोलह पाद हैं और सूत्रों की कुल संख्या ३२३६ है।

२. कुछ संशोधनों के साथ पाल्यकीर्ति ने पाणिनीय व्याकरण की विशिष्टताओं का पूरा-पूरा उपयोग किया है। पाणिनि के प्रत्याहार सूत्र "ऋलृक्" को "ऋक्" कर दिया गया है क्योंकि ऋ और लृ एक ही हो गए हैं। संस्कृत भाषा में लृ का प्रयोग वैदिक साहित्य के बाद नाममात्र को भी नहीं हुआ है। इसी प्रकार 'हयवरट्' और 'लण्' इन दो सूत्रों को मिला कर एक कर दिया गया है।

१. "अनुमल्लवादिनं तार्किका:" हेम, २. २. ३९.
२. "वामनस्तु बृहद्वृत्तौ यवामाषेति पठति" — गणरत्नमहोदधि।
३. मीमांसक, यु० सं० व्या० शा० का इतिहास भाग-२, स० २०१९, पृ० १४९.
४. Majumdar (ed) History and Culture of Indian people, Vol. V, 1964, p. 8.
५. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग २, १९६२ पृ० सं० १९७-८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. पाल्यकीर्ति ने अपने व्याकरण में संज्ञाओं के नामकरण में जैनेन्द्र की नई किन्तु दुरूह शैली का अनुसरण न करके पाणिनि की अनेक अन्वर्थ (यद्यपि महती) संज्ञाओं को यथावत् ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार की संज्ञाओं में संयोग, अनुनासिक, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, प्रत्यय, अव्यय, धातु, तद्धित, आदेश, सदृश संज्ञाएं उल्लेखनीय हैं।

४. जहां जैनेन्द्र के व्याकरण में पाणिनि के प्रत्याहार सूत्रों को आधार मान लिया गया है, वहां उसी व्याकरण के शब्दार्णव (वृद्धपाठ) पर शाकटायन के प्रत्याहारसूत्रों का प्रभाव माना गया है।

५. इस व्याकरण की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए टीकाकार यज्ञवर्मा का कथन है कि पाल्यकीर्ति ने अपने सूत्रों में ही पतंजलि की इष्टियों, उपसंख्यानों और वक्तव्यों (अर्थात् वार्तिकों) का समावेश कर लिया है अतः उन्हें अलग से पढ़ने की आवश्यकता नहीं है—

"इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।
संख्यातं नोपसंख्यातं यस्य शब्दानुशासने।।"

६. यद्यपि पाल्यकीर्ति का पूरा व्याकरण उत्सर्ग-अपवाद शैली पर ही लिखा हुआ है, तथापि लिंग और समासान्त प्रकरण को समास में तथा एकशेष को द्वन्द्व प्रकरण में रखकर प्रक्रिया शैली का एक सीमा तक अनुसरण किया जिसका बीजवपन कातन्त्र व्याकरण में हो चुका था परवर्ती काल में हैम व्याकरण में जिसको और अधिक आगे बढ़ाया गया।

शाकटायन व्याकरण पर मुख्य रूप से दो वृत्तियां हैं। एक वृत्ति स्वयं पाल्यकीर्ति ने अपने आश्रयदाता अमोघवर्ष के नाम से लिखी और उसे अमोघा नाम दिया जिस का संकेत हम ऊपर कर आए हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण वृत्ति है जिसके बारे में पाल्यकीर्ति के व्याकरण के दूसरे वृत्तिकार यज्ञवर्मा का मत है कि इसमें **गणपाठ**, **धातुपाठ**, **लिंगानुशासनपाठ** और **उणादि** के अलावा सम्पूर्ण व्याकरण आ गया है—"गणधातुपाठयोगेन धातून् लिंगानुशासने लिंगगतम्। औणादिकानुणादौ शेषं निश्शेषमत्र वृत्तौ विद्यात् अमोघावृत्ति पर प्रभाचन्द्र ने एक न्यास लिखा जो वृत्ति को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का एक प्रयास था—"तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघीयसी।" यज्ञवर्मा द्वारा लिखित चिन्तामणि वृत्ति भी संक्षेप पर अधिक बल दे रही है—"समस्त वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन।"

इनके अतिरिक्त आचार्य अभयचन्द्र ने पाल्यकीर्ति के व्याकरण के आधार पर "प्रक्रियासंग्रह" नामक ग्रन्थ की रचना की जिसका अनुकरण भावसेन ने "शाकटायन-टीका" और दयालपाल मुनि ने "रूपसिद्धि" नामक ग्रन्थ में किया।

पं० अम्बालाल शाह[1] की सूचना के अनुसार पाल्यकीर्ति ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त धातुपाठ और लिंगानुशासनपाठ की भी रचना की थी। जहाँ धातुपाठ का प्रकाशन पं० गौरीलाल जैन ने कुछ समय पूर्व करवाया था, वहाँ लिंगानुशासनपाठ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है जिसमें ७० पद्य हैं।

बुद्धिसागर सूरि—ऐसा माना जाता है कि श्वेताम्बर जैन आचार्यों की परम्परा में बुद्धिसागर सूरि प्रथम विद्वान् हैं जिन्होंने व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। बुद्धिसागर सूरि अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान थे जिन्होंने व्याकरण के अतिरिक्त छन्दःशास्त्र की भी रचना की थी। बुद्धिसागर सूरि के जीवन के सम्बन्ध में कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। पर उनके द्वारा लिखित व्याकरण के अंत में एक श्लोक मिलता है[2] जिसके आधार पर पं० मीमांसक[3] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आचार्य बुद्धिसागर सूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं सदी का उत्तरार्ध है। यदि उपर्युक्त श्लोक प्रामाणिक है तो इसकी सहायता से हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि बुद्धिसागर की कर्मस्थली मध्यभारत का जाबालिपुर (वर्तमान जबलपुर) रही होगी।

आचार्य बुद्धिसागर सूरि का व्याकरणग्रन्थ आजकल अप्रकाशित अवस्था में उपलब्ध है।[4] परन्तु इसके मौलिक होने में सन्देह माना जाता है। आचार्य के नाम से ही इनके ग्रन्थ को "बुद्धिसागर व्याकरण" कहा जाता है, पर "पञ्चग्रन्थी" और "शब्दलक्ष्म" इसके

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ५ पृ० २१.

२ श्री विक्रमादित्यनरेन्द्रकालात्
साशीतिके याति समासहस्रे
सश्रीकजाबालिपुरे तदाद्यं
दृब्धं मया सप्तसहस्रकल्पम्।

३ संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ५६१।

४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० २२, पा० टि० ३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य दो नाम भी हैं। ऊपर (भूमिका भाग में) कहा जा चुका है कि बुद्धिसागर सूरि ने जैन व्याकरण ग्रन्थों की रचना का कारण ब्राह्मणों द्वारा किए जाने वाले व्यंग्य बाणों में निहित अपमान को माना है। इन उपर्युक्त श्लोकों के आधार पर कह सकते हैं कि आचार्य को अपने ग्रन्थ का नाम "शब्दलक्ष्म" विशेष प्रिय रहा होगा। "प्रमालक्ष्मप्रान्त" में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बुद्धिसागर सूरि ने अपने व्याकरण ग्रन्थ की रचना पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों के आधार पर की थी तथा साथ ही आचार्य ने धातुपाठ, गणपाठ और उणादिपाठ की भी रचना की थी—"श्री बुद्धिसागराचार्यः पाणिनि-चन्द्र-जैनेन्द्र विश्रान्त-दुर्ग टीकामवलोक्य धातु सूत्र गणोणादि-वृतबन्धैः सह कृतं व्याकरणं संस्कृतशब्द-प्राकृतशब्द सिद्धये।" इसके अतिरिक्त आचार्य ने लिंगानुशासनपाठ की भी रचना की थी जिसका संकेत आचार्य हेमचन्द्र ने दो बार किया है।[1] प्रभावकचरित में लिखा है कि इस व्याकरण का परिमाण आठ सहस्र श्लोक था। विद्वानों की धारणा है कि यह परिमाण आचार्य द्वारा लिखित सभी पाठों से युक्त सम्पूर्ण व्याकरण का माना जाना चाहिए।

भद्रेश्वर सूरि—जैनेन्द्र-परवर्ती जैन वैयाकरणों में सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिंगानुशासनपाठ—इस प्रकार पंचांग व्याकरण के निर्माण की परम्परा के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा प्रतीत होती है। "शाकटायन व्याकरण" में ये पाँचों पाठ थे या नहीं ऐसा कुछ निश्चित रूप से कह पाना कठिन प्रतीत होता है। आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने सम्भवतः पांचों पाठों की रचना की थी। आचार्य भद्रेश्वर सूरि द्वारा रचित व्याकरण का कोई भी पाठ इस समय उपलब्ध नहीं होता। इनके व्याकरण का नाम दीपक था ऐसा वर्धमान के गणरत्नमहोदधि से ज्ञात होता है।[2] परन्तु यह व्याकरण आजकल उपलब्ध नहीं होता है।

आचार्य भद्रेश्वरसूरि ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त **धातुपाठ, गणपाठ, और लिंगानुशासनपाठ** की भी रचना की थी ऐसा अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है। सायणविरचित माधवीयाधातुवृत्ति के प्रामाण्य से ऐसा माना जाता है कि श्री भद्रेश्वर सूरि ने धातुपाठ की रचना थी। दूसरी ओर वर्धमान के ही साक्ष्य से ऐसा माना जाता है कि भद्रेश्वर सूरि ने गणपाठ और लिंगानुशासनपाठ की रचना की थी। भद्रेश्वर सूरि का काल वर्धमान से पूर्व ११वीं सदी और १२वीं सदी ई० के मध्य में माना जाता है। आचार्य भद्रेश्वर सूरि बुद्धिसागर सूरि के समान श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि—जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जैन व्याकरण परम्परा और सम्पूर्ण संस्कृत व्याकरण के इतिहास में आचार्य हेमचन्द्र सूरि का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है। व्याकरण और व्याकरणेतर—दोनों निकायों में हेमचन्द्र का योगदान इतना अद्भुत रहा है कि कृतज्ञ विद्वज्जगत् उन्हें "कलिकाल सर्वज्ञ" के नाम से जानता है। अपने आश्रयदाता राजा सिद्धराज जयसिंह के आदेश से उन्होंने जिस व्याकरणग्रन्थ की रचना की उसका संयुक्त नाम उन्होंने रखा—सिद्ध-हैमशब्दानुशासन।

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन और काल के सम्बन्ध में कुछ सामग्री प्राप्त होती है। इनका जन्म कार्तिक पूर्णिमा विक्रम सं० ११४५ में हुआ माना जाता है। हेमचन्द्र के पिता चाच अथवा चचि वैदिक मतावलम्बी थे जबकि माता पाहिनी जैनमतावलम्बिनी थी। मां की कृपा एवं आशीर्वाद से हेमचन्द्र ने श्वेताम्बर जैन आचार्य चन्द्रदेवसूरि का शिष्यत्व ग्रहण किया। विद्या-अध्ययन करने के बाद हेमचन्द्र ने जिन ग्रन्थों की रचना की उनका सम्बन्ध व्याकरण, न्याय, धर्म, काव्य, छन्द आदि से है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि का देहावसान ८४ वर्ष की आयु में हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र का शब्दानुशासन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण जैन संस्कृत व्याकरण में जो तीन सम्प्रदाय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम—इनमें से इसका महत्त्व सबसे अधिक है। यह एकमात्र जैन व्याकरण है जिसके बारे में निश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह "पंचांग व्याकरण" था क्योंकि यह उसी रूप में आज भी उपलब्ध है। प्रबन्धचिन्तामणि[4] में इसका स्पष्ट संकेत बहुत ही विचित्र ढंग से प्राप्त होता है कि आचार्य ने पंचांग-व्याकरण की रचना एक ही वर्ष में पूरी कर ली थी "हेमचन्द्राचार्यः श्रीसिद्धहेमाभिधानामिधं पंचांगमपि व्याकरणं सपादलक्षपरिमाणं संवत्सरेण रचयांचक्रे। यदि श्री सिद्धराजः सहायीभवति तदा कतिपयैरेव दिनैः पंचांगमपि नूतनं व्याकरणं रचयामहे।" यदि यह सत्य है तो हेमचन्द्र की विलक्षण प्रतिभा की हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं।

---

१. उदरम् जठरव्याधि युद्धानि। जठरे त्रिलिंगमिति बुद्धिसागरः।
(उद म्) त्रिलिंगोऽयमिति बुद्धिसागर.॥

२. "श्री बुद्धिसागरसूरिश्चक्रे व्याकरणं नवम्।
सहस्राष्टकमानं तद् श्रीबुद्धिसागराभिधम्।"

३. मेधाविनः प्रवरदीपककर्तृयुक्ताः; "—गणरत्न महोदधि, पृ० १. इसकी व्याख्या में स्वय वर्धमान लिखते हैं—" दीपक कर्ता भद्रेश्वरसूरिः। प्रवरश्चासौ दीपक कर्ता च प्रवरदीपककर्ता। प्राधान्यं चास्याधुनिक वैयाकरणापेक्षया।"

४. पृ० १६०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैमशब्दानुशासन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह व्याकरण पाणिनीय उत्सर्ग अपवाद शैली पर आधारित न होकर विशुद्ध प्रक्रिया शैली पर आधारित है। यद्यपि अष्टाध्यायी के समान हैम व्याकरण में भी आठ अध्याय हैं पर इसमें सूत्रों का क्रम विषयानुसार है। इस अनुशासन में क्रमशः संज्ञा, स्वरसन्धि, व्यंजनसन्धि, नाम, कारक, स्त्रीप्रत्यय, समास, आख्यान, कृदन्त और तद्धित प्रकरणों का विवेचन है।[1]

हैम व्याकरण में, अन्य जैन व्याकरणों के समान, स्वर,वैदिक प्रकरण का अभाव है। परन्तु हैम अनुशासन में जिस नई पद्धति का प्रारम्भ किया गया है वह यह है कि इसके अन्तिम अध्याय में प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के नियमों का विवेचन किया गया है। यद्यपि हेमचन्द्र द्वारा लिखा गया यह व्याकरण प्रथम प्राकृत व्याकरण नहीं है, पर हेमचन्द्र सदृश महान् वैयाकरण आचार्य द्वारा संस्कृत भाषा के व्याकरण में प्राकृत भाषा का व्याकरण जोड़ देना जहां एक ओर प्राकृत भाषा के महत्त्व को विद्वज्जगत् में सुप्रतिष्ठित करता है वहां आचार्य की तुलनात्मक व्याकरण दृष्टि को भी परिपुष्ट करता ही है।

अपने व्याकरण को सर्वग्राह्य बनाने की दृष्टि से हेमचन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती प्रायः सभी महत्वशाली व्याकरण ग्रन्थों से सहायता ली है। पाणिनि व्याकरण से सहायता लेना हेमचन्द्र की उदार व्याकरण दृष्टि का परिचायक है। इसके अतिरिक्त शर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण, भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण सदृश जैनेतर तथा जैनेन्द्र और शाकटायन सदृश जैन व्याकरणों का प्रभूत योगदान सिद्ध-हैमशब्दानुशासन के निर्माण में माना जाता है। जैनेन्द्र की महावृत्ति और शाकटायन की अमोघावृत्ति से हेमचन्द्र ने पर्याप्त नियमों को यथावत् ग्रहण कर लिया है। उदाहरणतया पाणिनि के "नित्यं हस्ते पाणावुपयमने" (१. ४. ७७) शाकटायन के "नित्यं हस्ते पाणौ स्वीकृतौ" (१. १. ३६) और हैम के "नित्यं हस्ते पाणौ पाणावुद् वाहे" (३. १. ५५) में समानता स्पष्ट है।

सिद्धहैमशब्दानुशासन आठ अध्यायों में विभक्त सूत्रपाठ है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रारम्भ के सात अध्यायों में संस्कृत भाषा के तथा अंतिम आठवें अध्याय में प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के नियम हैं। इस प्रकार सूत्रों की संख्या एक से सात अध्यायों तक ३५६६ तथा आठवें अध्याय में १११९ और कुल मिलाकर ४६८५ है जो पाणिनीय अष्टाध्यायी के ३९९६ सूत्रों से लगभग छह सौ अधिक है। इस सूत्रपाठ पर आचार्य की स्वोपज्ञ वृत्तियां है। ये वृत्तियां अनेक प्रकार की हैं। इनमें से एक लघ्वी वृत्ति छह सहस्र श्लोक परिमाण की, दूसरी मध्यावृत्ति बारह सहस्र श्लोक परिमाण की तथा तीसरी बृहती वृत्ति अठारह सहस्र श्लोक परिमाण की मानी जाती हैं। ऐसा स्वाभाविक रूप से कहा जा सकता है कि ये वृत्तियां अलग-अलग स्तर के पाठकों के लिए लिखी गई होंगी। इन तीन वृत्तियों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने नब्बे सहस्र श्लोक परिमाण का शब्दमहार्णवन्यास अथवा बृहन्यास भी लिखा था जो अब अंशतः ही उपलब्ध और प्रकाशित है। इस समय यह न्यास प्रारम्भ के नौ पादों तक ही प्रकाशित रूप में मिलता है।[2] हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य कतिपय विद्वानों ने भी इस शब्दानुशासन पर वृत्तियां लिखी थीं। वेल्वाल्कर ने[3] इन वृत्तिकारों के नाम धनचन्द्र, जिनसागर, उदय-सौभाग्य, देवेन्द्रसूरि, विनयविजयगणि, मेघविजय गिनवाए हैं। पर आज इन सबके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। आचार्य ने अपने ग्रन्थ में अपने से पूर्ववर्ती प्रायः सभी प्रमुख वैयाकरणों का नाम सादर स्मरण किया है जिनमें पाणिनि, पाल्यकीर्ति सहित जैन-अजैन सभी वैयाकरण हैं।

भट्टोजि दीक्षित ने जिस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी का पूर्ण प्रक्रिया रूपान्तर अपने विख्यात ग्रन्थ सिद्धांतकौमुदी में किया है, उसी प्रकार सिद्ध हैमशब्दानुशासन का पूर्णप्रक्रिया रूपान्तर उपाध्याय मेघविजय ने सन् १७०० में चन्द्रप्रभा नामक ग्रन्थ में किया था। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम हेमकौमुदी भी है। इस ग्रन्थ में कुछ शब्दरूपों की सिद्धि पाणिनीय तन्त्र के आधार पर भी कर दी गई है।

प्राचीन काल में किसी वैयाकरण को अपना सम्प्रदाय स्थापित करने के लिए व्याकरण के पांचों पाठों की रचना करनी पड़ती थी ऐसा हम ऊपर कह आए हैं। इस दृष्टि से, उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि पाणिनि के बाद हेमचन्द्र ही वास्तविक अर्थों में सम्प्रदाय प्रवर्तक वैयाकरण हुए हैं। पूर्ण वैज्ञानिकता और मौलिकता के बावजूद हेमचन्द्र का सम्प्रदाय पाणिनि सम्प्रदाय के समान उत्तराधिकारियों की एक श्रेष्ठ परम्परा से मण्डित क्यों न हो सका, इसके कारणों का विवेचन आवश्यक होने पर भी प्रस्तुत निबन्ध की सीमाओं में नहीं हो पाएगा। पर इतना निश्चित है कि हेमचन्द्र ने सूत्रपाठ के अतिरिक्त धातुपाठ, गण-पाठ, उणादिपाठ और लिंगानुशासन पाठ की रचना पूर्ण विमर्श के साथ की थी।

---

१. प्रथम शताब्दी ई० म कातंत्र व्याकरण में जिस विषयानुसारी क्रम को प्रारम्भ किया गया था, कम-अधिक मात्रा में आगे बढ़ते-बढ़ते वह क्रम हैम अनुशासन में अधिक परिपक्व रूप में देखने को मिलता है।

२. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, १९६९, पृ० ५८९.

३. Belvalkar, Systems of Sanskrit Gramnar, p. 75.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेमचन्द्र के धातुपाठ का नाम हेमधातुपारायण है। समस्त धातुपाठ नौ गणों में विभक्त है। पाणिनि के दस गणों में से जुहोत्यादिगण को अदादिगण में समाविष्ट कर लिया गया है। समस्त धातुओं की संख्या १९८० है। हेमचन्द्र ने दो प्रकार की धातु स्वीकार की हैं—शुद्ध और प्रत्ययान्त। जहां शुद्ध धातुओं में भू, गम्, पठ् आदि का समावेश होता है वहां कारि, चोरि, भावि, जुगुप्स्, कण्डूय सदृश धातु प्रत्ययान्त हैं। हेमचन्द्र ने फक्क् (निर्माण), खोड्(घात), झिम् (खाना), पूली (तृणोच्चय करना) सदृश धातु भी कल्पित की जो जनसामान्य में प्रयुक्त शब्दों के संस्कृतीकरण का प्रयास कही जा सकती है। धातुपाठ पर हेमचन्द्र की स्वोपज्ञा वृत्ति के अतिरिक्त गुणरत्नसूरि ने भी एक वृत्ति की रचना की थी।

हेमचन्द्र का लिखा गणपाठ स्वयं आचार्य द्वारा लिखे शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञा बृहतीवृत्ति में संकलित उपलब्ध होता है। जो गण वहां नहीं आ पाए हैं उनका संकलन विजयनीति सूरि ने अपनी सिद्धहेम-बृहत्प्रक्रिया" में कर दिया है। आचार्य के गणपाठ पर आक्षेप करते हुए बेल्वाल्कर ने[1] लिखा हैं कि उसमें पाल्यकीर्ति के शब्दानुशासन और उसकी अमोघावृति का अन्धानुकरण की सीमा तक आश्रय लिया गया है। जबकि पं० मीमांसक का[2] कथन है कि हैम गणपाठ में पाल्यकीर्ति के अनुकरण के बावजूद मौलिकता है।

हेमचन्द्र का उणादिपाठ सबसे अधिक विस्तृत पाठ माना जाता है। इस पाठ में १००६ सूत्र हैं। इस पर आचार्य की स्वोपज्ञा वृत्ति भी है।

हेमचन्द्र का लिंगानुशासन पाठ १३८ श्लोकों में है जो बहुत अधिक विस्तृत माना जाता है। इसमें शब्दों के लिंगनिर्देश कई आधारो पर निश्चित किए गए हैं जबकि पाणिनि के पाठ में केवल प्रत्ययों को ही लिंगनिर्धारण का आधार माना गया है। इस नवीनता का कारण भी स्पष्ट है। हेमचन्द्र अपने समय के महान् कोशकार थे और उनका विभिन्न शब्दों और प्रयोगों का ज्ञान अद्भुत थाँ। उसी का प्रभाव उनके लिंगानुशासनपाठ पर भी है।

हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन के अनुकूल एक परिभाषापाठ भी लिखा था जिसमें ५० परिभाषाएँ संकलित हैं। इनके अतिरिक्त हैम सम्प्रदाय के एक अन्य आचार्य हेमहंसगणि ने ८४ अन्य परिभाषाओं का एक पूरक परिभाषासंग्रह लिखा है। हैमव्याकरण में परिभाषाएँ न्यायसूत्रों के नाम से जानी जाती हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के पंचांग व्याकरण पर विशाल टीका-उपटीका सम्पत्ति प्राप्त होती है। इस समस्त सामग्री का विश्लेषण निबन्ध की स्वाभाविक सीमाओं को देखते हुए सम्भव नहीं है।

वर्धमान—१२वीं सदी के विख्यात जैन आचार्य वर्धमान अपने एकमात्र व्याकरणग्रन्थ गणरत्नमहोदधि के कारण संस्कृत व्याकरण निकाय में अत्यधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। वर्धमान का सम्बन्ध श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के साथ माना जाता है। पर उनका ग्रन्थ किसी विशेष जैन व्याकरण सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। कुछ संशोधकों ने ऐसा सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पाल्यकीर्ति के शाकटायन-व्याकरण में जो धातु आते हैं उनका संकलन वर्धमान ने किया है। ऐसा मान लेने पर गणरत्नमहोदधि की सर्वस्वीकृत आकरता संदिग्ध हो जाती है। वस्तुतः वर्धमान के ग्रन्थ में शाकटायन और हैम सदृश जैन सम्प्रदायों के गणपाठों का, चन्द्रगोमि सदृश बौद्ध व्याकरण सम्प्रदाय के गणपाठ का तथा पाणिनि और कात्यायन के स्वरवैदिक प्रकरण से व्यतिरिक्त गणपाठ का महान् संकलन कर दिया गया है। इस पर वर्धमान की स्वोपज्ञा टीका भी है। इन प्रमुख वैयाकरणों के अतिरिक्त अन्य जिन वैयाकरणों का उल्लेख वर्धमान ने किया है उनके नाम हैं—अभयनंदी, अरुणदत्त, भद्रेश्वर, सुधाकर, वामन, भोज आदि। वर्धमान के गणरत्नमहोदधि की विषेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) इस ग्रन्थ में उपर्युक्त अनेक प्रकार के व्याकरणसम्प्रदायों के गणपाठों का संकलन है, पर प्रमुख रूप से यह जैन सम्प्रदाय का ही गणपाठ संग्रह है क्योंकि पाणिनि के स्वरवैदिक सम्बन्धी गणों को सम्मिलित न करके वर्धमान ने अपनी जैन दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है।

(२) इस ग्रन्थ में उद्धृत विभिन्न गणों के अनेक पाठान्तर भी दिए गए हैं जिनका उल्लेख "एके"; "अन्ये"; "अपरे" आदि की सहायता से किया गया है।

(३) गणपाठों का संकलन करते समय वर्धमान ने अनेक प्रयोगों के उदाहरण भी दिए हैं। इस प्रक्रिया में वर्धमान ने अनेक कवियों के श्लोकों को भी उद्धृत किया है।

---

१. Belvalkar, Systems of Sanskrit Grammer. p. 76.
२. मीमांसक. सं व्या० शा० का इतिहास भाग २, पृ० १५७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) वर्धमान ने पाणिनि के कुछ लम्बे सूत्रों को गणरूप में परिवर्तित कर दिया है।

गणरत्नमहोदधि पर स्वयं वर्धमान की एक स्वोपज्ञावृत्ति है। इसके अतिरिक्त गंगाधर और गोवर्धन ने भी इस पर टीकाएँ लिखी थीं।

वर्धमान सिद्धराज जयसिंह के आश्रय में रहे। ये वही सिद्धराज हैं जो हेमचन्द्र के आश्रयदाता थे। इससे वर्धमान आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन सिद्ध होते हैं। हेमचन्द्र का समय विक्रम की बारहवीं सदी का उत्तरार्ध है। अतः यही समय वर्धमान का भी माना जा सकता है। अपने आश्रयदाता की स्तुति में वर्धमान ने "सिद्धराजवर्णन" नामक ग्रन्थ लिखा था जिसके पद्यों को उसने अपने गणरत्नमहोदधि में उदाहरणस्वरूप भी प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र परवर्ती जैन व्याकरण की परम्परा में हेमचन्द्र के बाद वर्धमान को छोड़कर कोई उल्लेखनीय नाम सामने नहीं आता है। इस प्रसंग में कुछ विद्वान् आचार्य मलयगिरि सूरि विरचित मुष्टिका व्याकरण, सहजकीर्ति गणि के शब्दार्णव व्याकरण, जयसिंहसूरि का "नूतनव्याकरण" मुनि प्रेमलाभ का "प्रेमलाभव्याकरण", दानविजय का का "शब्दभूषण व्याकरण" आदि व्याकरणग्रन्थों का नाम लेते हैं। ये सभी व्याकरण किसी भी रूप में अपने अस्तित्व की छाप नहीं छोड़ पाए और किसी न किसी रूप में हैमव्याकरण से प्रभावित रहे। इस प्रकार हैमतन्त्र के साथ ही जैन परम्परा में मौलिक व्याकरण ग्रन्थों की श्रृंखला में विराम सा आ जाता है।

(ख) जैनेतर व्याकरण एवं जैन आचार्य

जैसा कि इस निबन्ध की भूमिका में ही कहा जा चुका है जैन वैयाकरणों ने जैन-इतर वैयाकरण सम्प्रदायों की श्रीवृद्धि में भी अपना बहुमूल्य योगदान किया है। यहाँ उसका संक्षेप में अध्ययन किया जा रहा है।

पाणिनीय व्याकरण—पाणिनीय व्याकरण पर जैन आचार्यों का भाष्य वृत्ति सम्बन्धी कार्य बहुत कम उपलब्ध होता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनीय व्याकरण पर जैन आचार्यों ने बहुत कम लिखा है। विभिन्न उल्लेखों से ऐसा प्रमाणित होता है कि जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद देवनन्दी ने पाणिनि व्याकरण पर "शब्दावतार न्यास" की टीका लिखी थी। यह टीका इस समय उपलब्ध नहीं है। शिमोगा जिले की "नगर" तहसील के एक संस्कृत शिलालेख (४३वाँ लेख) में स्रग्धरा छन्द में बने एक श्लोक में पूज्यपाद के ग्रन्थों का उल्लेख है जिसके पहले पाद में आचार्य के "पाणिनीयन्यास" का स्पष्ट उल्लेख है—"न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनतं पाणिनीयस्य (भूयः)।" इसी प्रकार वृत्तविलास ने धर्मपरीक्षा नामक कन्नड़ काव्य में इस प्रकार के एक ग्रन्थ का संकेत दिया है।

१७वीं सदी में विश्वेश्वर सूरि नामक एक जैन विद्वान् ने भी अष्टाध्यायी पर एक टीका लिखी थी जो आज अंशतः (केवल प्रारंभ के तीन अध्याओं तक) ही उपलब्ध है। इस व्याख्या पर भट्टोजि दीक्षित का नाम स्थान-स्थान पर उद्धृत किया गया है जिससे सिद्ध होता है कि व्याख्याकार भट्टोजि से प्रभावित है।

इन व्याख्याओं के अतिरिक्त पाणिनीय तन्त्र पर अन्य किसी महत्वपूर्ण जैन प्रयास के प्रमाण प्राप्त नहीं होते।

कातन्त्र व्याकरण—जैन आचार्यों द्वारा जैनेतर संस्कृत व्याकरण सम्प्रदायों में से कातन्त्र और सारस्वत व्याकरणों को बहुत अधिक योग दिया गया है। इसका कारण सम्भवतः यह माना जा सकता है कि वैदिक भाषाओं के नियमों की भी प्रतिपादिका होने के कारण यहां पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रति जैन आचार्यों में उत्साह की कमी थी वहां कातन्त्र और सारस्वत इन दो महत्वपूर्ण पाणिनि-परवर्ती व्याकरण सम्प्रदायों में वैदिक भाषा के नियमों को कोई विशेष स्थान प्राप्त न था। इसलिए जैन आचार्यों ने इन दो व्याकरणों पर विशेष टीका सम्पति प्रदान की।

जहाँ तक कातन्त्रव्याकरण का सम्बन्ध है, कुछ संशोधक इसे भी एक जैन व्याकरण ही मानना चाहते हैं, यद्यपि परम्परा एवं प्रमाणों से यह बात पुष्ट नहीं होती। पं० अम्बालाल शाह के शब्दों में[1]—"सोमदेव के कथासरित्सागर के अनुसार (कातन्त्रकार) अजैन सिद्ध होते हैं, परन्तु भावसेन त्रैविद्य रत्नमाला में इनको जैन बताते हैं।" वस्तुतः सभी प्रमाण कातन्त्रव्याकरण को जैनेतर ही सिद्ध करते हैं। (१) कातन्त्रकार शर्ववर्मा ने स्वयं को किसी भी रूप में जैन नहीं कहा है। (२) सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में शर्ववर्मा जैन नहीं कहे गए हैं। (३) इसके विपरीत अग्निपुराण और स्कन्दपुराण में इस व्याकरण को कार्तिकेय की कृपा से प्राप्त माना जाता है जिसके आधार पर इसे कालाप और कौमार व्याकरण भी कहा जाता है। (४) व्याकरण की परम्परा में इसे काशकृत्स्न व्याकरण (का=काशकृत्स्न) का संक्षेप

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ५०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना गया है। (५) इस व्याकरण में वैदिक संस्कृत के नियमों का अभाव शर्ववर्मा के ही शब्दों में "क्षिप्रप्रबोधार्थ" है न कि वेदों से वैराग्य के कारण है। (६) इस व्याकरण का प्रचलन-क्षेत्र बंगाल रहा है (और एक सीमा तक अभी भी है) जो कभी भी जैन विद्या का केन्द्र नहीं रहा। (७) श्रमण परम्परा में प्रारंभ में यह व्याकरण केवल बौद्धों में ही लोकप्रिय रहा है जिसके परिणामस्वरूप इसका धातुपाठ आज भी तिब्बती भाषा में प्राप्त होता है।

कातन्त्रव्याकरण के लेखक शर्ववर्मा स्वयं चाहे जैन न हों, पर इस व्याकरण की परिपूर्णता में जैन आचार्यों का भी पूरा योगदान रहा है। शर्ववर्मा इस व्याकरण के आख्यातान्त भाग तक के ही रचयिता माने जाते हैं।[1] जबकि उसके कृदन्त भाग के कर्ता कात्यायन माने जाते हैं। दुर्गसिंह की कातन्त्रवृत्ति के प्रारम्भ में ही लिखा है—

"वृक्षादिवदमी रूढ़ा न कृतिना कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुद्धप्रतिबुद्धये ॥

कात्यायन भी अजैन ही थे। परन्तु इस व्याकरण की महत्ता के संवर्धन में जैन विद्वान् विजयानन्द के कातन्त्रोत्तर-व्याकरण तथा वर्धमान के कातन्त्रविस्तर का प्रभूत योगदान रहा है। जैन पुस्तक प्रशस्तिसंग्रह (पृ० १०८) में विजयानन्द का दूसरा नाम विद्यानन्द कहा गया है—"इति विजयानन्द विरचिते कातन्त्रोत्तरे विद्यानन्दापरनाम्नि—।" दूसरी ओर कातन्त्रविस्तर के लेखक वर्धमान का सम्बन्ध गुजरात के राजा कर्णदेव से जोड़ा जाता है।

इन दो महत्वपूर्ण जैन विस्तरग्रन्थों के अतिरिक्त कातन्त्रव्याकरण पर कुछ अन्य जैन आचार्यों ने भी ग्रन्थ लिखे। इन ग्रंथों को हम तीन वर्गों में बाँटकर देख सकते हैं। कुछ ग्रन्थ शुद्ध रूप से कातन्त्र पर विस्तरग्रन्थ हैं। ऊपर लिखे दो ग्रन्थों के अतिरिक्त धर्मघोषसूरि द्वारा लिखित चौबीस सहस्र श्लोक प्रमाणवाला कातन्त्रभूषण भी इसी कोटि का ग्रन्थ है जो कातन्त्र पर आधारित है और उसी को रूपान्तर में प्रस्तुत करता है। दूसरे प्रकार के ग्रन्थ वे ग्रन्थ हैं जो शर्ववर्मा के व्याकरण पर वृत्ति अथवा व्याख्या के रूप में हैं। इनमें हर्षचन्द्र के लेखकत्व से ज्ञात कातन्त्रदीपकवृत्ति तथा सोमकीर्ति द्वारा लिखित कातन्त्रवृतिपञ्जिका के नाम उल्लेखनीय हैं। कातन्त्र व्याकरण में पाणिनि के समान उत्सर्ग-अपवाद विधि का शिथिल अनुकरण करने पर भी सूत्रों का क्रम विषयानुसार रखा गया है। अतः कुछ जैन विद्वानों को कातन्त्र पर प्रक्रियाग्रन्थ लिखने का आकर्षण स्वाभाविक ही हुआ। ऐसे ग्रन्थों में दिगम्बर मुनि भावसेन की कातन्त्ररूपमाला तथा उसी पर किसी अन्य जैन मुनि की लघुवृत्ति के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ जैन विद्वानों ने कातन्त्र पर लिखी दुर्गसिंह की टीका का पृथक् से ग्रन्थ रूप में अध्ययन किया है।

सारस्वत व्याकरण—यह एक आश्चर्य का विषय है कि कातंत्रव्याकरण न तो किसी जैन आचार्य द्वारा लिखा गया था और न ही जैन विद्या के किसी ज्ञात केन्द्र में प्रचलित रहा है। इस पर भी इस व्याकरण पर इतनी अधिक संख्या में जैन आचार्यों द्वारा विविध प्रकार के ग्रन्थों का लिखा जाना आश्चर्यजक है। इस दृष्टि से अनुभूतिस्वरूपाचार्य द्वारा १५वीं सदी में लिखे गए सारस्वत व्याकरण पर और भी अधिक जैन विद्वानों द्वारा ग्रन्थों का लिखा जाना इसलिए कम आश्चर्य का विषय है क्योंकि यह व्याकरण जैन विद्या के प्रमुख केन्द्र गुजरात में प्रचलित रहा है और जैनों में इस व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन प्रायः होता रहा हैं। पं० अ- शाह ने इस व्याकरण पर तेईस जैनग्रन्थ गिनवाए हैं[2]। ये सभी ग्रन्थ अनेक प्रकार के हैं। इनमें से कुछ ग्रन्थ सारस्वत व्या- या टीका के रूप में हैं जिनमें मालज्ञातीय मन्त्री का सारस्वत मण्डन, यशोनन्दीरचित यशोनन्दिनी टीका मेघरत्न व ..., और चन्द्रकीर्तिसूरि की सुबोधिनी प्रसिद्ध हैं। कुछ ग्रन्थ विशुद्ध रूप से प्रक्रिया शैली में लिखे गए हैं जिनमें सारस्वत व्याकरण को आधार बनाया गया है। इनमें पद्मसुंदरगणि की सारस्वतरूपमाला तथा नयसुन्दरमुनि की रूपरत्नमाला उल्लेखनीय हैं। कुछ ग्रन्थ सारस्वत व्याकरण के कुछ अंशों पर लिखे गए। उदाहरणतया, सारस्वत व्याकरण के सन्धिभाग पर सोमशीलमुनि की पंचसन्धि टीका परिभाषाओं पर दयारत्नमुनि की न्यायरत्नावली, हर्षकीर्तिसूरि की धातुतरंगिणी तथा उपाध्याय राजसी का पंचसंधि बा ...विबोध के नाम लिए जा सकते हैं। इन सबके अतिरिक्त १८वीं सदी में मुनि आनन्द विधान ने सारस्वत व्याकरण पर भाषाटीका की भी रचना की थी। ये सभी ग्रन्थ प्रायः अप्रकाशित अवस्था में विभिन्न पुस्तकालयों में हस्तलिखित रूप में हैं और १५वीं से १८वीं सदी के मध्य लिखे गए।

उपसंहार—निबन्ध की कुछ सहज सीमाएँ होती हैं जिसमें विश्लेषण एक परिधि से आगे हो पाना सम्भव नहीं हो पाता; विश्लेषणयोग्य ग्रन्थों की अधिकता हो जाने पर उनका कोटिशः विवरण मात्र ही हो पाता है। इस निबन्ध में भी संस्कृत व्याकरण को

---

१. कथासरित्सागर, लम्बक, १, तरंग ६, ७.
२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ५, पृ० ५५ से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आचार्यों द्वारा जो प्रभूत योगदान हुआ है उसकी कोटियाँ बनाकर विवरण शैली में ही विश्लेषण हो पाया है। परन्तु इसके आधार पर हम कुछ निश्चित निष्कर्षों तक पहुंचने की स्थिति में आ जाते हैं। उपसंहार रूप में यहाँ दो निष्कर्षों तक निरपेक्ष भाव से पहुंचने का प्रयास किया जा रहा है—

(१) इसमें सन्देह नहीं है कि विद्वान् जैन आचार्यों ने संस्कृत व्याकरण की समृद्धि में प्रभूत योगदान किया है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में से तीन जैन व्याकरण इस उच्च कोटि के सिद्ध होते हैं कि उनके प्रवर्तकों को संप्रदाय प्रवर्तक कहा जा सकता है। जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम—ये तीन व्याकरण केवल व्याकरण मात्र ही नहीं रह गए अपितु व्याकरण-सम्प्रदाय के स्तर को प्राप्त कर गए। इनमें से भी आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण, अपने पांचों व्याकरण-पाठों की उपलब्धि के कारण, मौलिकता और व्याकरणिक गुणवत्ता के सर्वश्रेष्ठ जैन व्याकरण सम्प्रदाय माना जा सकता है। परन्तु इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता के रहते भी यह विचित्र वास्तविकता है कि कोई भी एक जैन व्याकरण सम्प्रदाय, यहां तक कि सिद्ध हैम भी, जैन समुदाय में सर्वस्वीकृत न हो सका। इसके विपरीत ये सभी व्याकरण, जैनेतर सारस्वत व्याकरण के साथ, जैन समुदाय में स्थान-स्थान पर अध्ययन-अध्यापन के लिए प्रचलित रहे। यह एक निष्कर्ष जैन समुदाय के उदार, असंकीर्ण बौद्धिक चेतना का परिचायक है। अपने समुदाय के विद्वानों द्वारा लिखित व्याकरणों की परिधि में उन्होंने स्वयं को परिसीमित नहीं कर लिया।

(२) इस सामान्य दृष्टिकोण परक निष्कर्ष के अतिरिक्त जैन व्याकरण के सम्बन्ध में एक विशिष्ट तकनीकपरक निष्कर्ष भी महत्वपूर्ण है। जैन व्याकरण की एक लम्बी परम्परा से हमारा परिचय हो चुका है। उस लम्बी परम्परा में तकनीक सम्बन्धी दो बातें उभर कर सामने आती हैं :

(क) पाणिनि की सम्पूर्ण व्याकरणिक प्रक्रिया का आधार प्रकृति-प्रत्यय प्रणाली है। सम्पूर्ण जैन व्याकरण में भी इस प्रणाली को यथावत् स्वीकार किया गया है। एक पुरानी परम्परा के उत्तराधिकारी के रूप में पाणिनि ने जिस विधि को पूर्ण परिपक्वता और वैज्ञानिकता प्रदान की, उस विधि का विकास ढूंढ पाना भाषाई दृष्टि से इसलिए सम्भव नहीं था क्योंकि जहां एक ओर यह विधि विश्लेषण की दृष्टि से संस्कृत व्याकरण का सहज अंग बन गई थी, वहाँ दूसरी ओर एक पुरानी भाषा के लिए, जो बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी, विश्लेषण की नूतन विधि प्रतिपादित करना भाषाई दृष्टि से न तो सम्भव था और न ही आवश्यक।

(ख) जिस प्रकार पाणिनि ने अपने व्याकरण में कुछ संज्ञाएं पूर्वाचार्यों से ग्रहण की थीं तथा कुछ नई संज्ञाओं का निर्माण किया था उसी प्रकार जैन व्याकरण-शास्त्र ने अनेक संज्ञाएं पाणिनि से यथावत् ग्रहण की और अनेक संज्ञाओं का नव-निर्माण किया। इन दोनों पक्षों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जैन आचार्यों ने संस्कृत व्याकरण का विश्लेषण पूरी परम्परा के अन्तर्गत रह कर करते हुए विशिष्ट वैज्ञानिक तकनीक का परिचय दिया।

व्रतचर्या क्रिया में अध्ययन सम्बन्धी निर्देश

सम्राट भरत ने द्विजों के लिए गर्भाधान से अग्रनिर्वृति अर्थात गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त तक महापुराण ३८/५०—३०९) में तिरेपन क्रियाओं का उल्लेख किया है। आवश्यक नियमों के पालन के उपरान्त महापुराणकार ने व्रतचर्या नामक क्रिया के अन्तर्गत ब्रह्मचारी बालक के अध्ययन के निमित्त इस प्रकार का प्रावधान किया है :—

सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात्।
विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम्॥
शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति।
सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च॥
ज्योतिर्ज्ञानमयच्छन्दोज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम्।
संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः॥

विद्यार्थी को सर्वप्रथम गुरु के मुख से श्रावकाचार पढ़ना चाहिए और फिर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ना चाहिए। उत्तम संस्कारों को जागृत करने एवं विद्वत्ता को प्राप्त करने के लिए व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्र का भी अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि आचार-विषयक ज्ञान होने पर इनके अध्ययन करने में कोई दोष नहीं है। इसके बाद, ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदि का भी उसे विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए।

—सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org